

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी
अप्रैल, सन् १९५० ई०

दो शब्द

'पथचिह्न' के बाद मेरे संस्मरणों की यह दूसरी पुस्तक है।

पुस्तक के नामकरण ('परिव्राजक की प्रजा') में एक ध्वन्यार्थ है। शब्दार्थ तो संन्यासी पिता की सन्तान है, किन्तु परिव्राजक जिस संस्कृति का प्रतीक है 'परिव्राजक की प्रजा' भी उसी संस्कृति की प्रजा है, वह राजनीति से परे है। पुस्तक के नाम से ही जीवन की रचनात्मक दिशा का सङ्केत मिल जाता है।

मेरी यह आत्मकथा 'आप बीती जग बीती' के अनुसार सबकी कथा बन गयी है—

"यही मेरा, इनका, उनका, सबका स्पन्दन
हास्य से मिला हुआ क्रन्दन
यही मेरा, इनका, उनका, सबका जीवन"

काल के प्रखर प्रहार से जीवन की स्मृतियाँ क्षीण होती जा रही हैं। विस्मृति में विलीन होने के पहिले मैंने कुछ स्मृतियों को सँजो लिया है। आशा है, इससे पाठकों को सामाजिक प्रेरणा मिलेगी।

ये क्रमबद्ध संस्मरण प्रायः 'पर्सनल ऐसे' बन गये हैं। कहानी और निबन्ध का इनमें गठबन्धन हुआ है। अभी और बहुत कुछ लिखना चाहता था, किन्तु श्रम और शोषण से शरीर जर्जरित हो गया—

"नहीं गाया जाता अब देव !
थकी अँगुली, हैं ढीले तार,
विश्ववीणा में अपनी आज
मिला लो यह अस्फुट झंकार।"

लोलार्क कुण्ड,
काशी,
नवम्बर, १९५२

शान्तिप्रिय द्विवेदी

अनुक्रमणिका



बाल्यकाल

मुक्त पुरुष

काशी,
मङ्गलवार, १३-११-५१

उन दिनों आस-पास के देहातों से काशी में संस्कृत पढ़ने के लिए जो विद्यार्थी आया करते थे उन्हीं में मेरे पिताश्री भी थे।

पिताजी आजमगढ़ जिले के बरहँपुर गाँव के रहनेवाले थे। इस गाँव का डाकखाना बाजार गोसाईं है। देहातों में साधु-सन्तों के लिए जो श्रद्धा-भक्ति चली आ रही है उसी के कारण कहीं-कहीं गाँवों के नाम में भी तीर्थों की-सी पवित्रता है।

बरहँपुर ब्राह्मणों का गाँव है। सभी देहातों की तरह इस गाँव में भी प्रकृति की शोभा है। अमराई और खेतों के बीच में बसा हुआ यह प्रकृति के मानव-परिवार-जैसा लगता है। यहाँ का राग-द्वेष, हर्ष-विषाद, सब कुछ प्रकृति की तरह ही उन्मुक्त है। खेती के साथ-साथ मनुष्य के मन को भी सींचते रहने के लिए कछार में सरजू जी बहती रहती हैं जो अयोध्या तक अखण्ड चली गयी हैं। न जाने किन पूर्वजों के पुण्य से पुण्यसलिला ने यहाँ भी अपना दर्शन दे दिया। जाड़े के दिनों में मटर, अरहर, सरसों और तीसी की रंग-बिरंगी हरियाली और ईख के सघन झुण्डों से परिवेष्टित सरजू के ऋजु-कुञ्चित तट

नन्दन-वन की तरह सुहावने लगते हैं। ऐसा जान पड़ता है, मानों प्रकृति ने वायु की तरह अदृश्य किन्हीं वनशिशुओं को खेलने के लिए दोनों किनारों पर स्वर्गीय उद्यान लगा दिया है।

गाँव के मुहाने पर पूरब ओर शिवजी का छोटा-सा मन्दिर है, जिसका पतला शिखर दूर से शून्य के ललाट पर तिलक-जैसा लगता है। मन्दिर के बगल में न जाने कितने युगों को असंख्य स्मृतियों को अपनी छाया में विश्राम देनेवाला पुरखों जैसा पुराना पीपल का विशाल वृक्ष है। मन्दिर और पीपल के बीच से गाँव की टेढ़ी-मेढ़ी और ऊँची-नीची कच्ची सड़क मनुष्यों की भाग्यरेखा की तरह उनका पथ-सञ्चालन करती रहती है। न जाने कितने गाँवों और नगरों के सुख-दुख की कथा का संवहन करती हुई वह कहाँ से कहाँ चली गयी है!

यह गाँव (बरहँपुर) कभी बहुत भरा-पूरा रहा होगा। आपस के लड़ाई-झगड़े और संयुक्त परिवारों के बिलगाव के कारण गृहस्थों के घर अब गुलदस्ते के टूटे फूलों की तरह बिखर गये हैं। बिखर कर भी अभी कुछ समय पहिले तक उनमें पुरानी शोभा और पुराना घरेलूपन बना हुआ था। सभी वर्णों में परस्पर सहयोग और सामाजिक सौहार्द था। उच्च वर्ण से लेकर नाऊ, धोबी, कहाँर, कोइरी, कुर्मी, कुम्हार, चमार सभी एक दूसरे के परिपूरक थे। सबका काम अन्न के माध्यम से चल जाता था। मालगुजारी भी अन्न से ही चुकाई जाती थी। इस तरह धरती के पुत्र धरती से ही जीवन पा जाते थे। जीने के लिए उन्हें कोई कृत्रिम आयास नहीं करना पड़ता था। किन्तु जब से आर्थिक राजनीति (रुपये-पैसे की दुनिया) ने गाँवों में भी प्रवेश किया तब से नगरों की तरह वहाँ का जीवन भी आतप से झुलसे फूलों की तरह शोभा-शून्य हो गया है।

हमारा घर-द्वार तो बहुत बड़ा था, किन्तु खेती अधिक नहीं थी। दो-चार बीघे जमीन पर कई प्राणियों का भार था, फिर भी असन्तोष और अभाव का नाम नहीं था, खेती की कमी शायद जजमानी से पूरी हो जाती थी। पिताजी चाहते तो गाँव में ही बने रह सकते थे, किन्तु उनकी ज्ञान-पिपासा उन्हें काशी खींच ले गयी।

काशी—विद्यागुरु विश्वनाथ की काशी, गङ्गाधर चन्द्रशेखर भगवान भूतभावन की काशी, शिव के त्रिशूल पर टिकी तीन लोक से न्यारी पाप-ताप-नाशिनी काशी! इसके घाटों की छटा देखने के लिए यहाँ पर्य्यटक भी आते हैं और अपने पापों के प्रक्षालन के लिए तीर्थयात्री भी। सदियों के उलट-फेर में भी इसकी सांस्कृतिक परम्परा अभी तक बनी हुई है। वस्तुतः काशी और बनारस दो भिन्न क्षेत्र हैं। बनारस में व्यापार है, काशी में अन्तःसाक्षात्कार; वह काशी सरस्वती की तरह मुमुक्षुओं और ज्ञानपिपासुओं के हृदय में बसी हुई है। बनारस तो दिखाई देता है, किन्तु काशी अपने आराधकों के अन्तःकरण में अदृश्य है। यही काशी मेरी जन्मभूमि है।

पिताजी कब काशी आये, किस तरह उन्होंने यहाँ अपने जीवन का प्रारम्भ किया, कैसे-कैसे क्या-क्या पढ़ा-गुना, यह सब अज्ञात है। हाँ, यहाँ उन्होंने अपना परिवार रोप लिया था। एक पौधे की तरह आँखें खुलते ही मैंने देखा—माँ है, बहिन है, दुधमुँहा भाई है; किन्तु पिताजी कहाँ हैं? मेरी तुतलाहट टूटते-न-टूटते वे तो अनिकेतन-संन्यासी हो चुके थे। परिक्रमण करते हुए जब कभी वे द्वार पर आ जाते तब अपने गेरुए वस्त्रों में मुझे किसी अजाने देश के अपरिचित अतिथि जान पड़ते। प्यार से जब वे मुझे पकड़ना चाहते तब मैं भयभीत होकर भाग जाना चाहता। इन चर्मचक्षुओं से उस अलौकिक आत्मा को पहिचान नहीं सका। आह, एक बार फिर वे ज्यों के त्यों लौट आते!

काशी में पिताजी की गृहस्थी किसी सुदामा की ही गृहस्थी थी, किन्तु वे आजन्म तन-मन-धन से 'दुर्बली महाराज' थे; कृष्ण का वैभव घर में नहीं ला सके। काशी में संन्यासियों और महन्तों के लिए मठ हैं, अखाड़े हैं, जजमानी से जीनेवाले ब्राह्मणों के लिए घर-द्वार और जगह-जमीन है, छात्रों के लिए कंकर-कंकर में शंकर की तरह अन्न-क्षेत्रों और पाठशालाओं की भरमार है*, किन्तु पिताजी ने अपनी गृहस्थी के लिए कुछ नहीं जुटाया, वे तो 'सब तज राम भज' का सन्देश ग्रहण कर चुके थे।

काशी विश्वनाथ के चरणों में दरिद्रता भी धन्य हो जाती है, कहावत है—

चना चबेना गङ्ग जल जौ पुरवै करतार।
काशी कबहुँ न छोड़िये विश्वनाथ दरबार॥

पिताजी की निर्धनता स्वेच्छा से अङ्गीकृत थी। श्रद्धालु भक्त उन्हें बहुत-बहुत अन्न-वस्त्र-धन भेंट करने के लिए ले आते, किन्तु उन्हें अपने एकान्त-ध्यान के सिवा और कुछ अभीष्ट नहीं था। उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने और उनकी कृपा-दृष्टि पाने के लिए भक्तगण घण्टों बैठे रहते, जब उनकी प्रतीक्षा सफल नहीं होती तब अपने उपहारों को उन्हीं के समीप छोड़ कर चले जाते। पिताजी उन उपहारों को छूते तक नहीं, दूसरे लोग उठा ले जाते। क्या वे उस सदाशय शिव की तरह थे जो दूसरों को देने के लिए ही स्वयं भिखारी बना रहता है!

---

*अब यह सब सपना होता जा रहा है।

किन्तु संन्यासी होकर भी पिताजी भिक्षुक कहाँ थे ! भिक्षा लेते किस लिए ? परिवार को वे रामभरोसे छोड़ आये थे। अपने लिए भी उन्हें असन-वसन की चिन्ता नहीं थी। खाने को जंगल से एक विशेष प्रकार की वनस्पति ले आते, पीने को अपने कमण्डल में गङ्गाजल अथवा कूप-जल भर लेते। वस्त्र न रहने पर दिगम्बर ही घूमते रहते। धरती उनका बिछावन थी, आकाश उनका ओढ़ना। प्रकृति के प्राङ्गण के वे मुक्त पुरुष थे।

राम में रमा उनका मन तो संसार के लिए निःस्व हो ही चुका था, निष्प्राण हो जाने पर वे अपने शव से भी शिव की साधना करना चाहते थे। प्रायः कहा करते, मेरे शरीर से सहस्र भण्डारा होगा !

उनका शरीर इस पृथ्वी पर रहता, किन्तु मन सन्त कवियों की तरह न जाने कहाँ-कहाँ विचरता रहता। संसार के कोलाहल से दूर, एकान्त तपोवन में आँखें खुलने पर वे देखते, उन्हें चारों ओर पशु-पक्षी घेरे हुए बैठे हैं। अहा, उस ब्रह्माण्डचारी ब्रह्मचारी का यह कैसा नैसर्गिक समाज था !

कभी-कभी वृक्षों की डाली पर से जब कोई पंछी कलरव करते हुए उड़ पड़ता, तब वे भी उसका साथ देने के लिए बोल उठते—'देखो, देखो, यह क्या कहता है !'—एक विस्मय-विमुग्ध जिज्ञासु की तरह वे उस उड़ते हुए पक्षी को देर तक देखते रह जाते। पंछी की बोली की तरह लोग उनकी बातों को भी नहीं समझते। वे बावले वैरागी थे। कैसे थे वे अलबेले जोगी ! भूले-भटके जब कभी नगर के राजपथ पर आ जाते तो तरुणियाँ उनके बमभोलेपन पर मुसकरा पड़तीं, वे उनके स्तनों की ओर संकेत कर मूक भाषा में कहते—दूध पी लूँ ! तरुणियाँ भाव-विभोर होकर अपने अञ्चल को मुख पर तिरछे घुमा लेतीं।

अपने हरे-भरे एकान्त-तपोवन में कभी-कभी मुझे भी ले जाते। कहते—'बेटा, इस तरह पालथी मार कर राम-राम कहो।' मै वैसा ही करने लगता। वे तो पद्मासीन होकर राम-नाम में निमग्न हो जाते और मै पतंग खरीदने के लिए चुपचाप शहर की ओर चल देता। दूसरे दिन वे फिर पकड़ ले जाते। कहते—'कल तू कब भाग गया रे!'

इस तरह बचपन से ही मेरा एक पग संसार की ओर था, दूसरा पग पिता के तपोवन की ओर।

काशी,
रविवार, २७-१-५२

सगुण शिशु

काशी,
वसन्तपञ्चमी
गुरुवार, ३१-१-५२

उधर पिताजी जंगल में मंगल मना रहे थे, इधर उनका परिवार राम-नाम की पतवार थामे हुए अपनी जीवन-नौका खे रहा था।

घर-द्वार उन्होंने बनाया नहीं, कुटुम्ब दूसरों के नीड़ में घोंसला बना कर जी रहा था। यह सौभाग्य की बात है कि उनका परिवार नागरिक नहीं, गङ्गातटवासी था। गाँव में न रहते हुए भी वातावरण गाँव-जैसा ही था। आज जहाँ माता आनन्दमयी का आश्रम है वही भदैनी मुहल्ला मेरे बचपन का निवासस्थान है। एक लोहार के पड़ोस में जिस घर में मैं रहता था वह बड़ी अच्छी जगह पर था। घर के द्वार पर खुला चबूतरा था, वह मन को भी सङ्कीर्ण नहीं होने देता था। चबूतरे के नीचे ही बाजार जाने के लिए गली थी, जो कुछ दूर सीधी जाकर मुहल्ले के लोकविख्यात वैद्यराज के विशाल भवन के सामने से दाहिनी ओर नदी की धारा की तरह मुड़ जाती थी। बाजार बिलकुल समीप था, वह एक अलग संसार की तरह मेले-जैसा आकर्षण रखता था। किन्तु मेरे लिए अभी उसका कोई विशेष महत्त्व न था। मैं अभी अभी तो टाँगों के बल खड़ा होकर फुदकने लगा था।

घर के पीछे राजगुरु की आलीशान नैपाली कोठी थी जो अब भी मौजूद है। बच्चों के छोटे शरीर के मुकाबले उसका फाटक बहुत बड़ा जान पड़ता था, इसीलिए उस कोठी का नाम भी 'फटका' पड़ गया था। उसी के अहाते में मैं मैदान की हवा की तरह खेला करता। वहाँ एक पेड़ कनेर का और एक पेड़ नीम का था। कनेर के पेड़ पर चढ़ कर मैं उसके फूलों का रसास्वादन करता। चूसे हुए फूलों को नीचे गिराता जाता, गिरे हुए फूल पृथ्वी के अञ्चल को वसन्ती बना देते। कनेर के बगल में पानी का नल था, किसी पतले झरने की तरह उसका जलस्रोत वातावरण को अहर्निश स्निग्ध बनाये रखता था। कोठी का वह मैदान छोटे बच्चों का वृन्दावन था।

जान पड़ता है, बचपन से ही मुझे मधुरता प्रिय है। मधुरता किस बच्चे को प्रिय नहीं, फिर मेरा तो वह जन्मजात स्वभाव है— 'ब्राह्मणम् मधुर प्रियः।' मधुरता के लोभ में कनेर से मेरी मित्रता हो ही चुकी थी, किन्तु उससे कुछ दूर खड़ा नीम का पेड़ भी तितली के पङ्खों-जैसे पतले-चिकने पत्तों से पुलकित होकर मुझे अपनी ओर बुलाया करता। उसके पास जाकर मै वहाँ भी मधुरता की खोज करता। हाथी की तरह उसके भारी-भरकम देह पर तो मैं चढ़ नहीं सकता था। नीचे से उसके तने को ही अपनी छोटी बाँहों के आलिङ्गन में भर लेना चाहता। इधर-उधर उसके खोतों में चिपके हुए ताजे गोंद मेरे हाथ लग जाते। स्वाद लेने के लिए जब मैं उन्हें चखता तब उनमें मुझे एक फीकी मिठास मिल जाती। लोभ में आकर एक बार मैं पूरा गोंद ही खा गया। खाने के बाद मुझे यह चिन्ता होने लगी कि इतना बड़ा पेड़ मेरे सिर पर उग आया तब ! मैं उसका बोझा लेकर चलूँगा कैसे !

नैपाली कोठी की तलहटी में उसके अन्तस्तल की तरह एक लम्बा

तहखाना था, मानो जमीन के नीचे कोई सुरंग हो। वहाँ बराबर अँधेरा छाया रहता, अँधेरे में वह किसी तिलस्म-जैसा लगता था। सीढ़ियों से नीचे उतर कर हम बच्चे तहखाने में जा पहुँचते, वहाँ इधर-उधर भटक कर कोई रहस्य खोजने लगते। खोजते-खोजते स्वयं ही खो जाते। नदी के तल में जलज जीवों की तरह संसरण करते हुए जब कभी अचानक किसी साथी का देह-स्पर्श हो जाता तभी हमें अपने अस्तित्व का आभास मिलता। अन्धकार के उस छायालोक की नीरव निर्जनता को भंग करने के लिए किलकारी मार कर बच्चे चिल्ला उठते, प्रतिध्वनि से वहाँ का सूनापन सजीव हो उठता, ऐसा जान पड़ता, मानों उस तहखाने में अदृश्य प्रहरी पहरा दे रहे हों।

घर के चबूतरे के नीचे एक द्विभुज रेखा-जैसी माँझियों की छोटी-सी बस्ती थी। ब्राह्मण के घर के समीप होकर भला वे किसी से घट कर कैसे रह सकते थे। जब मैं चबूतरे पर खेलता रहता तब नीचे से उचक कर मछुआहे मुझे अपने घरों में इस तरह खींच ले जाते जिस तरह जल का कोई जीव उतरा कर क्षण भर में फिर भीतर विलीन हो जाता है। किसी को पता भी नहीं चलता कि मैं कहाँ चला गया! अहा, अपने रसोई घर में माँझियों की गृहिणियाँ मेरा कैसा आतिथ्य करतीं! वे मुझे अपने काठ के बर्त्तनों में मछली-भात खिलातीं। कभी-कभी तो वे मुझे सब के सामने से भी उठा ले जातीं। बच्चों की तो कोई जात-पाँत नहीं होती, इसलिए उन पर सबके स्नेह का अधिकार रहता है।

माँझियों की बस्ती से सटा हुआ स्याद्वाद जैन महाविद्यालय है। वह सचमुच अपने नाम के अनुरूप ही हमारी पहुँच के बाहर जान पड़ता था। फिर भी मेरे बाल्यसंस्कारों में उसकी भी स्मृति बनी हुई है। गङ्गातट-स्थित इस विशाल विद्यालय की छत बहुत बड़ी है। छत के

बीचोबीच एक जैन-मन्दिर है, जो मानों यहाँ के चतुर्दिक वातावरण का सभापतित्व करता रहता है। उन दिनों विद्यालय के गर्भ-द्वार पर नौबत बजा करती थी। भारी नगाड़ों की कुड़ु़म-धुम, मँजीरों की टनन-टुनुन और शहनाई की सुरीली तान बड़ी सुहावनी जान पड़ती थी; विशेषकर दोपहर के मौन सन्नाटे में।

बच्चों और बन्दरों के लिए भला रुकावट कहाँ हो सकती है। मुहल्ले के बच्चे विद्यालय की छत पर खेला करते, मन्दिर की माई (मन्दिर की सेविका) से कभी-कभी केसर या हलदी में पगी पीले रंग की गरी खाने को पा जाते। साँझ के बाद विद्यालय के सामने की गली में 'हाथी-घोड़ा-पालकी' बन कर दौड़ लगाते।

इस मुहल्ले में जैनियों के दो मन्दिर है—श्वेताम्बर और दिगम्बर, दो हाथों की तरह दोनों पास-पास हैं। विद्यालय का मन्दिर दिगम्बरों का है, वह अपने चारों ओर के वातावरण से सम्बद्ध है। श्वेताम्बरों का मन्दिर मुहल्ले में होकर भी अग-जग से तटस्थ है, वह जैसे बाहरी जगत की ओर से अपना द्वार बन्द कर एकदम कोने में समाधिस्थ हो गया है। मन्दिर के शिखर को छूता हुआ, इसी की दीवाल से सटा हुआ इमली का एक विशाल पेड़ था, वह किसी सहयोगी की तरह मन्दिर की एकान्त निर्जनता को नीरस नहीं होने देता था। उसी पेड़ के कारण गङ्गातट का यह भाग 'इमिलिया घाट' भी कहलाता था।

श्वेताम्बर मन्दिर के प्रवेश-द्वार के नीचे की जमीन को बारहदरी कहते हैं। मुहल्ले के लोगों के बैठने-उठने और बच्चों के खेलने के लिए यह गङ्गा तट पर एक छोटा-सा स्वर्गीय तल्प-जैसा जान पड़ता है। कुछ और बड़े हो जाने पर यही बारहदरी हम बालकों के लिए कितनी दन्तकथाओं और कितने क्रीड़ा-कलरवों का प्राङ्गण बन गयी।

बचपन में मैं यहीं बैठ कर प्रातःकालीन सूर्य्य की ओर एकटक ताकता रहता; गङ्गा के जल में जब उसकी रंग-बिरंगी किरणें रिलमिल-रिलमिल करने लगतीं तब उन्हीं के साथ मेरी दृष्टि भी उर्म्मिल-उर्म्मिल हो जाती।

गङ्गा के उस पार की वनराजि अपना हरा अञ्चल फहरा कर मुझे अपने पास बुलाती रहती थी। मैं वहाँ कैसे पहुँच पाता! तैरना जानता नहीं था। तट पर बैठे-बैठे ही मैं अपने मनोजगत में पहुँच जाता।

समस्त सृष्टि मुझे एक जाग्रत स्वप्न-सी जान पड़ती थी! प्रकृति और मनुष्य के बीच मेरे मन में कोई विभेद नहीं था। दोनों ही नैसर्गिक जान पड़ते थे, इसी लिए फूलों और तितलियों को प्यार करने वाला मन मानव-जगत में भी रम जाता था। घर में मेरे आकर्षण का केन्द्र मेरा छोटा भाई रुचन (रुचिरचन्द्र) था। वह इतना सुन्दर था कि उसे मैं अपनी छोटी-छोटी बाँहों के अँकवार में भर कर मानों त्रिभुवन के सौन्दर्य्य को अपनी सीमा में समेट कर, लोगों को बड़े चाव से दिखलाता फिरता था। अकिञ्चन होकर भी मैं कितना वैभवशाली था!

बहिन की ममता रुचन पर मुझसे अधिक थी। वह रुचिरचन्द्र (रुचन) अनिन्द्य सुन्दर था। न तो मेरी तरह वधिर था, न कृश-काय। वह प्रकृति के हाथों का निर्दोष निर्म्माण था, उसका लाड़ला होकर सबका लाड़ला था। मैं अपनी तुतलाहट से मनुष्यों की भाषा सीख रहा था, और वह अभी न जाने किस नन्दन-वन का नीरव पारि-जात था। वह मुस्कराता तो चारों ओर स्वर्ग की आभा फैल जाती। वह यथानाम तथागुण था।

रुचन की आँखें बड़ी मनोहारिणी थीं। मैं उसकी आँखों पर

इतना रीझा हुआ था कि उनसे सीपियों की तरह खेला करता। हा हन्त, खेल-खेल में ही उसकी आँखें जाती रहीं। वह दिव्य कुसुम अकाल-काल-कवलित हो गया।

तट पर बैठ कर मैं जिस गङ्गा की शोभा देखा करता था, एक दिन वह कफ़न में लपेट कर डोरी से बाँध कर उसी गङ्गा में प्रवाहित कर दिया गया। उस समय घर में विषाद का कितना पारावार उमड़ पड़ा होगा, कैसे कहूँ, लेकिन अपनी आँखों का अपार सूनापन मुझे याद है। जिस दिशा में मेरा भैय्या प्रवाहित कर दिया गया तट पर उसी दिशा की ओर देखते हुए मैं सोचा करता, वह कहाँ चला गया! गङ्गाजल में जब असंख्य तारे झलमलाने लगते तब उन्हीं में मैं उसे पहचानने का प्रयत्न करता—मेरा भैय्या इनमें कहाँ है!

काशी,

२८-२-५२

मातृ-विसर्जन

काशी,
२९-२-५२

वही मुहल्ला, वही वातावरण। इस बार परिवार को एक भरे-पूरे ब्राह्मण कुटुम्ब में स्थान मिला। नैपाली कोठी की सीमा जहाँ समाप्त होती है, उसी के सामने बरगद का एक विशाल पेड़ है, पेड़ के पार्श्व में मानों उसी के पुराने साथी के रूप में उस ब्राह्मण-कुटुम्ब का घर था। किला न होते हुए भी उसकी चहारदीवारी किले-जैसी है, बाहर से वह किसी गढ़ी-जैसा जान पड़ता है। उसी के भीतर एक कक्ष में मेरे बचपन का वह आवास अभी तक ज्यों का त्यों है। दो कमरों के बीच में एक बरामदा, दूसरे कमरे के सामने फिर बरामदा, ऐसा ही तिकोना उस घर का एक कोना मेरा संसार बना।

आश्रयदाता दुक्खू चाचा (पुण्यश्लोक पण्डित दुःखभञ्जन मिश्र) अपने व्यक्तित्त्व में एक सम्भ्रान्त पुरुष थे। वे दूसरों का दुःख दूर करते थे, किन्तु स्वयं दुक्खू ही बने रहे। कहते हैं, दुक्खू चाचा लड़कपन में बड़े नटखट, खिलाड़ी और घुमक्कड़ थे, शायद इसी कारण उनका हृदय उदार हो गया था। उन्हें निकम्मा समझ कर उनके पिता ने घर-बार जगह-जमीन, सब कुछ अपने बड़े लड़के निरञ्जन मिश्र के नाम

लिख दिया था। इस तरह दूक्खू चाचा अपने बड़े भाई के आश्रित थे, मेरा परिवार आश्रित का आश्रित था। दुक्खू चाचा के बड़े भाई निरञ्जन मिश्र मुड्ढ देहाती थे, बड़े बिगड़ैल स्वभाव के वृषभ थे; उनकी स्त्री भी उन्हीं-जैसी थी। लेकिन उस समय मुझे इन बातों से क्या मतलब !

बचपन के ताल-सुर पर सध रहे मेरे जिन चपल चरणों के लिए सारी पृथ्वी ही क्रीड़ा-प्राङ्गण थी, उनके लिए क्या यह घर क्या वह घर; ठाँव-ठाँव मेरा फैलाव (पग-विस्तार) था।

घर के सामने एक बहुत बड़ा मैदान था। नाम था बगीचा, किन्तु इधर-उधर केवल दो-एक अमरूद, नीबू और बेर के पेड़ थे, बीच में सूखा तालाब था। यह मैदान कभी हरा-भरा मनोहर उद्यान रहा होगा, जिसके चारों ओर बसे हुए मकानों की बस्ती किसी अलकापुरी से कम सुन्दर नहीं रही होगी। दिन के प्रकाश में अथवा रात की चाँदनी में मकानों की लम्बी छाया जब तालाब में प्रतिबिम्बित होती रही होगी तब वह जलपरियों की राजधानी-जैसा लगता रहा होगा।

अब तो तालाब के सूखे गड्ढे को पाट कर वहाँ कोठियाँ बनने लगी हैं, किन्तु उस समय वह मैदान बच्चों के हृदय की तरह ही पृथ्वी का खुला आँगन था। कहीं कोई रोक-टोक नहीं, कहीं कोई सँकरापन नहीं; मुक्त पग मुक्तछन्द की तरह स्वच्छन्द विहार करते रहते। साँझ को वहाँ बालकों का मेला जुड़ जाता, वे अपनी-अपनी वय के अनुसार अपने-अपने मन का खेल खेलते।

मैं उस मैदान का सबसे छोटा सदस्य था। बालकों के आनन्द-कोलाहल में केवल अपना किलक-पुलक मिला देता था। प्रायः घर की चहारदीवारी से सटे लम्बे-चौड़े चौकोर चबूतरे पर ही बरगद के

पेड़ के नीचे खेला करता। क्या खेलता? अपनी ही मूक भावनाओं में आत्मविभोर होकर बरगद की छाया की तरह हिलता-डुलता रहता। पेड़ के तने से बँधी हुई भैंस जब दोपहर में लेटी हुई पगुराती रहती तब छेड़-छेड़ कर उसकी शांति भंग कर देता। उसकी पीठ पर बैठ कर मानों राजसिंहासन पा जाता। जैसे गौरैय्या उसके ककुद पर थिरकती रहती वैसे ही उसकी पीठ पर मैं मचकता रहता।

मेरे मन को घर में कही जाने वाली कहानियों में विशेष आनन्द मिलता था। इन कहानियों का अन्त भले का भला होता था। 'पञ्चतन्त्र' और 'हितोपदेश' की तरह ये कहानियाँ प्रतीकात्मक होती थीं। अन्त यद्यपि सुखान्त होता था तथापि बीच में कठिनाइयों अथवा संसार की जटिलताओं का भी पुट रहता था। कभी-कभी कोई सुग्गा या अन्य पक्षी भी अपना सामाजिक सहयोग देता था। आबाल-वृद्ध-वनिता सभी के लिए वे कहानियाँ एक सी ही रोचक थीं। लोकगीतों की तरह ही उन घरेलू कहानियों का भी अपना एक स्वाभाविक स्वारस्य है। क्या वे पुराने लोगों के साथ ही लुप्त हो जायँगी?

मेरे चारों ओर उन कहानियों की पात्र-पात्रियाँ बिखरी हुई थीं। नन्हें शिशु से लेकर घर की बड़ी-से-बड़ी पुरखिन तक में उन्हीं कहानियों का संसार समाया हुआ था। ये कहानियाँ उस युग की हैं जब मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ था, नगरों में रहने वाले भी मूलतः ग्रामीण थे। यन्त्र-युग का अभिशाप अभी जीवन में पूर्णतः छा नहीं गया था। पुराना वातावरण बना हुआ था।

कहानियों के अलावा, बिना अक्षर-ज्ञान के ही मैं देववाणी संस्कृत के वायुमण्डल में भी साँस लेता था। अच्छे ब्राह्मणों के घरों में देहात से

आये हुए संस्कृत के छात्रों को भी रहने के लिए स्थान मिलता था। घर के द्वार के दालान के कमरे में संस्कृत के विद्यार्थी रहा करते थे। बहुत तड़के ब्राह्ममुहूर्त्त में और रात को अपनी चौकोर लालटेन के उजाले में जब वे अपना पाठ कण्ठाग्र करते तब उनके उच्चारण से वातावरण मानों अभिमन्त्रित हो उठता था। कमरे में वे अपनी पुस्तकें, कपड़े और खाने-पीने का सामान रखते थे, दालान मे रसोई बनाते थे। उनकी रसोई का धूआँ यज्ञधूम्र की तरह पवित्र लगता था।

मै अभी दुधमुँहा ही था कि माँ की गोदी में एक नयी प्रजा का आगमन हुआ। इस बार रुच्चन के बाद हीरा का मुख देखने को मिला। उसका जन्म तो गाँव में ही हो गया था, माँ उसे अपने आँचल में ढाँप कर काशी ले आयी थी। हीरा सचमुच हीरामणि था, उसके प्रकाश से घर का कोना-कोना जगमगा उठता था।

हीरा का लालन-पालन माँ के हाथ में था, मेरा साज-सँभाल बड़ी बहिन के हाथ मे। बहिन का नाम था कल्पवती, स्वर्ग की इस कल्प-लता को विधाता ने मानों मेरे जीवन को प्रच्छायित करने के लिए ही पृथ्वी पर भेज दिया था।

माँ का पर्य्याप्त दूध मुझे मिल नहीं पाता था। कोमल आमाशय अभी अमृत-सिञ्चन ही चाहता था कि मुझे अन्न पर अवलम्बित होना पड़ा। सिञ्चन के अभाव में केवल खाद से ही तो कोई पौधा पनप नहीं सकता, मेरा शरीर सूखा ही रह गया। किन्तु हृदय बहिन के स्निग्ध स्नेह से रूखा नहीं होने पाया।

एक दिन जब माँ ने बहिन को दो रोटी और मुझे आधी रोटी खाने के लिए परोसी, तब मैं मचल गया—मैं भी दो रोटी खाऊँगा। हाय रे, माँ के स्तनों से वञ्चित मेरा अतृप्त मन! मै अभागा अपनी ही

भाग्यदेवी (कल्पवती बहिन) से प्रतिद्वन्द्विता कर बैठा। बहिन बाल-विधवा थी, उसके लिए माँ के हृदय में जितनी ही करुणा थी, उतनी ही भर्त्सना से उसने मेरी ओर देखा, मैं सहम गया। बहिन ने मुस्कराते हुए मुझे भी दो रोटी दे देने के लिए कहा। माँ बोली—यह खायेगा नहीं, छोड़ देगा। फिर भी मानों मुझे दण्ड देने के लिए ही दो रोटी परोस दी। मैं आधी रोटी खाकर ही अघा गया। माँ ने कहा—अब नहीं खायेगा तो मार खायेगा। मैंने रुआँसी आँखों से बहिन की ओर देखा। बहिन ने मुझे अपनी गोद में उठा लिया, पुचकार-पुचकार कर दोनों रोटी खिला दी।

छोटा बालक—जिसे न तो शिशु ही कहा जा सकता है और न सयाना ही—वह दोनों का स्वत्त्व स्वायत्त कर लेना चाहता है। ऐसा वह किसी लोभ या चालाकी से नही करता। उसमें जीवन की जो अस्पष्ट आकांक्षा उत्पन्न हो जाती है वही उसे कुछ पाने, कुछ ग्रहण करने के लिए प्रेरित कर देती है। यहाँ तक कि दुधमुँहा शिशु भी कभी मिट्टी तो कभी अँगूठा मुँह में डाल लेता है। फिर मेरी आकांक्षा तो भूख-प्यास में स्पष्ट हो रही थी। बहिन बड़ी थी, इसलिए उसे भूख-प्यास लगती नहीं होगी, वह तो मानों मुझे देने के लिए ही बड़ी है। और यह नन्हा भाई हीरा?—इसे भला क्या चाहिये? यह बौना तो अभी अपना मुँह भी नहीं खोल सकता था, 'निरे साँसों का पिञ्जर-द्वार' था। अपने सिवा शेष सृष्टि से नादान और अबोध मेरा बुभुक्षित मन भरण-पोषण के लिए लालायित रहता था।

एक दिन, रात के समय माँ का दूध पीने के लिए मैं बहुत हठ करने लगा। बहिन ने समझाया—माँ की तबीयत ठीक नहीं है, उसे दिक मत करो भाई।

मैं मान गया।

किन्तु दूसरे ही दिन तो माँ की मृत्यु हो गयी। मैं तब तक यही जानता था कि लुल्लू (साँप) के काटने से ही लोग मर जाते हैं। लुल्लू!—यह शायद संस्कृत के 'लुञ्ज' का अपभ्रंश जान पड़ेगा। लेकिन संस्कृत या उसके अपभ्रंश का तब मुझे क्या पता था! बिना हाथ-पाँव के साँप को कभी सरकते देख कर मेरे बाल-मन मे उसका जो चित्र बन गया वही शायद 'लुल्लू' में अभिव्यक्त हो गया। शब्दों का जन्म क्या इसी तरह भावोद्रेक से होता आया है!

मृत्यु क्या है, यह भला मै उस समय कैसे जान सकता था। मेरे लिए तो यही बड़ा दुःख था कि अब माँ का दूध पीने के लिए नही मिलेगा। मैने दुक्खू चाचा के पास जाकर कहा—मा को लुल्लू ने काट लिया है, लुल्लू को मार दीजिये।

"अच्छा बेटा, अच्छा"—कह कर उन्होंने मुझे बहला दिया।

माँ के कमरे के सामने दालान में बहिन का आकाशव्यापी हाहाकार गूँज रहा था—'ओ माँ! तू सबको छोड कर कहाँ चली गयी!'—शून्य मे उसका यही आर्त्तनाद प्रतिध्वनित हो रहा था।

ओह, उसका वह उस दिन का दुस्सह करुण-क्रन्दन! कोई कुररी भी वैसा दारुण विलाप नही करती होगी!

किसी तरह हृदय पर पत्थर रखकर बहिन ने माँ का दाह-संस्कार किया। आह, विधवा बालिका के हाथों माँ का दाह-संस्कार!

मूर्त्तिमती श्रद्धा की तरह बहिन ने माँ का श्राद्ध किया। इमिलिया घाट पर श्वेताम्बर मन्दिर के प्रस्तर प्राचीर से सटे चबूतरे पर वेदिका बना कर जब वह माँ का श्राद्धकृत्य करती थी तब उसकी आँखों मे आँसू नही थे, मुँह पर विषाद नही था, माँ के पुण्यकृत्य मे व्याघात न पड़ने देने के लिए वह आरती की तरह एकाग्र और शान्त हो गयी थी। किन्तु बाहर से शान्त होकर उसका अथाह शोक भीतर का निःशब्द करुण श्लोक बन गया था। उसका हृदय मोच खा गया था।

श्राद्ध के बाद, शून्य में खोयी हुई विहङ्गिनी की तरह माँ के बिना सूने घर में बहिन विक्षिप्त हो गयी। रात की नीरवता में जब सब लोग सो जाते थे तब उसकी आँखों में अन्धकार का प्रेत-ताण्डव होने लगता था। जिस तरह किसी थके तैराक के हाथ नदी में हिलते-डुलते हैं उसी तरह वायुमण्डल में हाथ हिला-डुला कर जब वह दमटुटी साँसों से उच्छ्‌वसित प्रलाप करने लगती, तब उसके पार्श्व में किसी की सान्त्वना का विगलित कण्ठ सुनाई पड़ता—सो जा जी, सो जा, ए जी, सो जा! वह थी दुक्खू चाचा की बड़ी लड़की पियारी। वह भी मातृहीना बालविधवा थी। अपने आलिंगन में बहिन को समेट कर वह मानों अपने ही जीवन को सहेज लेती थी। दोनों समवयस्का और समदुःखिनी सखियाँ सगी बहिनें हो गयीं।

माँ के निधन का समाचार पाकर जब मँझले चाचा काशी आये तब हीरा को अपनी गृहिणी के हाथों में सौंप देने के लिए गाँव पर ले गये। वहाँ अपनी देह में लगी हुई काशी की तीर्थरेणु देहात की मिट्टी में छोड़ कर वह कुड्मल कुछ ही दिनों बाद चल बसा।

काशी,
शुक्रवार, १४-३-५२

वनदेवी का अञ्चल

काशी,
१५-३-५२

मैं अभी वर्णमाला का ही अभ्यास कर रहा था कि बहिन के साथ देहात चला गया। कुटुम्ब की कई लड़कियाँ, जो रिश्ते में फूआ लगती थीं, ससुराल से गाँव पर आयी हुई थीं। काशी के शोकाकुल वातावरण से बहिन को अपने पास खींच लेने के लिए उन्होंने बुलाया था।

कदाचित् वह शरद ऋतु की उँजेरी रात थी। चारों ओर दूधिया चाँदनी फैली हुई थी। बच्चों का मन तो योंही स्वप्निल होता है, उस पर चाँदनी किसी परी लोक की जादूगरनी की तरह शिशुमन को अपने सम्मोहन से और भी स्वप्निल कर देती थी, अपनी अदृश्य उँगुलियों से गुदगुदा देती थी।

रास्ते की थकावट तो याद नहीं, लेकिन उस स्वर्गिक यात्रा की स्मृति मुझे आज भी बड़ी सुहावनी लगती है। सच तो यह कि चाँदनी में मैं कभी थकता नहीं। चाँदनी तो धरती के खुरदुरेपन पर भी हँसती-खिलखिलाती अपने कोमल चरणों से बिछलती रहती है, फिर

चाँदनी से स्निग्ध पथ पर भला थकावट कैसे हो सकती है! उस क्षीर-सिन्धु में मैं मन्दगति से बहता चला जा रहा था। चलते-चलते राह में जब कोई छोटा पुल मिल जाता तब वह मानों दण्डवत् कर कुछ क्षण अपनी पीठ पर बिठा लेता। बाजार से लौटते हुए एकाध पंसारी राह में मिल जाते। उनके टट्टुओं पर खाली बोरे और तराजू के पलड़े रक्खे रहते। बोरों को सिंहासन और पलड़ो को रकाब बना कर जब मै किसी टट्टू पर बैठ जाता तब उस चाँदनी का अश्वारोही राज-कुमार जान पड़ता। बेला और चमेली की तरह खिला हुआ मेरे चारों ओर धवल-उज्ज्वल वन-प्रान्तर मेरा शान्त और सुखी साम्राज्य था।

उस रात हम लोगों ने किसी देहाती सद्‌गृहस्थ के यहाँ पड़ाव डाला। दुमंजिले 'बस' की तरह छोटा-सा दुतल्ला मकान था, रेल की खिड़कियों-जैसी उसकी छोटी-छोटी खिड़कियाँ थी। चटकीली चाँदनी में जगमगाता हुआ वह आवास किसी जाज्वल्यमान नक्षत्र जैसा लगता था। बगल में मानों मोरछल करता हुआ नीम का बहुत बड़ा पेड़ था, उसके पत्तों के अन्तराल से चाँदनी छन-छन कर पृथ्वी पर झर रही थी। छायाचित्र बना रही थी।

दूसरे दिन सूर्य के प्रकाश में उस स्थान की वस्तुस्थिति स्पष्ट हो गई। मकान के पीछे देहाती बाजार था, सामने खेतों का दिगन्त तक फैला विस्तार।

ब्राह्मण समझ कर वणिक गृहस्थ ने हम लोगों का बहुत आतिथ्य किया। उससे विदा लेकर जब हम लोग अपने गाँव पर पहुँचे तब सारा गाँव सो गया था। वर्षाकाल की शेष आर्द्रता से गीली चाँदनी टहटहा रही थी। झींगुर और मेढक अपनी तीखी तान से सृष्टि की

निस्तब्धता को भङ्ग कर रहे थे, ऐसा जान पड़ता था मानों रात अपनी सीटी बजा कर सन्नाटे को चीर रही है।

प्रभात में पक्षी अपने नीड़ों से और खेतिहर अपने घरों से निकल कर कलरव करने लगे। अहा, यही हमारा गाँव है! नदी, खेत, जंगल और अमराई से सुशोभित प्रकृति का मुक्त प्राङ्गण!! ऋषियों की पर्णकुटी की तरह यहाँ कृषिजीवियों का गृहस्थाश्रम है। इसी आश्रम में पहुँच कर मै भी उसका एक अङ्ग हो गया।

घर में इधर-उधर फुदकने-फुदकते कभी-कभी मेरा मन उदास हो जाता। मुझे ध्यान आ जाता, मुझसे पहिले यहाँ एक पथिक और आ चुका है—मेरा छोटा भाई हीरा हृदय के स्पन्दन की तरह यहीं कहीं हिलता-डुलता रहा होगा! आह, अब वह कहाँ है!

... ...

गाँव की कन्याओं के स्नेह से स्वस्थ होकर बहिन फिर काशी चली गयी। पढ़ने-लिखने के लिए मुझे गाँव पर ही छोड़ गयी। गाँव से डेढ़ कोस दूर देहाती मदरसा था। सयाने लड़के मुझे भी अपने साथ ले जाते। पढ़ने की अपेक्षा मुझे घूमना अधिक पसन्द था। पैरों की तरह मस्तिष्क अभी गतिशील नही हो सका था।

खेतों की हरी-भरी वीथिका से मदरसे का रास्ता सुहावना लगता था, किन्तु मदरसे में जाते ही मन सूख जाता था। वातावरण निरानन्द था। शुष्क कर्म्मकाण्ड की तरह पढ़ाई होती थी। वहाँ की विशेषता यह थी कि जिस धरती से अन्न उगाया जाता है उसी धरती से अक्षर भी उरेहा जाता था। स्लेट या तख्ती तो बड़े लड़कों के लिए थी, वर्णमाला का अभ्यास करने वाले छोटे लड़को के लिए धरती ही उनकी पाटी थी। जमीन पर मैदे-जैसी महीन धूल फैला कर उसी में अपनी उँगुलियों से अ-आ लिखना पड़ता था। मिट्टी के भीतर से

बीज की तरह जब अङ्कुर कढ़ आते थे तब ऐसा जान पड़ता था कि मृण्मय ही चिन्मय हो उठा है।

खेती की तरह देहाती पाठशाला की विद्या भी हम छोटे बच्चों से पुरुषार्थ चाहती थी। खेती के लिए जैसे शरीर अभी सुपुष्ट नहीं था वैसे ही विद्या के लिए मन भी समर्थ नहीं था। तरुवासी विहङ्गों की तरह वह न जाने कहाँ-कहाँ उड़ता रहता था—अमराइयों में, कछारों में, जंगलों में। दिग्दिगन्त से प्रसन्न प्रकृति अपने पास बुलाती थी। सहज स्वाभाविक ढंग से खेतिहारों के तन-मन का विकास वही तो करती है।

दोपहर में जब खाने के लिए छुट्टी मिलती तब मैं अपनी पोटली में बँधा सत्तू लेकर खेतों की ओर चला जाता। वहाँ चुपके से सत्तू चींटियों के बिल में डाल देता और भूखा ही मदरसे लौट आता। जब फिर पाठशाला लगती तब मास्टर से कहता—आज कुछ खाया नहीं है, मुझे घर जाने दीजिये।

गाँव के लड़के चुगली खाते—यह झूठ बोल रहा है, इसे छुट्टी मत दीजिये मास्टर साहब!

वाह, भला यह कैसे हो सकता है कि मैं तो छुट्टी पा जाऊँ और ये मदरसे में खटते रहें! लेकिन मास्टर साहब मेरे लिए दयालु थे, उनसे छुट्टी मिलते ही मैं छलाँगें मारता घर की ओर चल देता। आते समय मुझ पर साथियों की चौकसी रहती थी, जाते समय मैं अकेला और निर्द्वन्द्व रहता। न कोई बन्धन, न कोई भय; मन स्वाधीनता के वायुमण्डल में विचरण करता था।

घर लौटने पर किसी के सामने जवाबदेही नहीं करनी पड़ती थी।

सब अपने-अपने में डूबे रहते थे। मँझले चाचा सन्तानवान थे, उन्हें या उनकी घरनी को किसी दूसरी ओर ध्यान देने की फुरसत नहीं थी। सबसे छोटे चाचा नवविवाहित थे, बड़ी उम्र में उनका विवाह हुआ था। उनकी दुलहिन बहुत पिछड़े हुए देहात की जबरदस्त लड़की थी। अपने पति पर हावी होकर वह सारे घर पर हावी हो गयी थी। उसका मिजाज बराबर आसमान पर चढ़ा रहता था। रोब जमाने के लिए उसने अपना स्वभाव कर्कश बना लिया था। निःसन्तान होने के कारण वह कभी-कभी शतरंज की गोंटी की तरह मेरा उपयोग अपनी जेठानी को नीचा दिखलाने के लिए कर लेती थी। ऐसे परिवार में किसी को भला मेरी क्या चिन्ता ! केवल 'बड़की माई' (वृद्धा दादी) मेरी राह जोहती रहती थी—'बचवा भूखा-प्यासा आ रहा होगा।' अपने विशेषाधिकार से वह मेरे लिए अरहर की दाल और नये धान के चावल की खिचड़ी बना देती थी। देहात की दरिद्रता में वह खिचड़ी ही दुर्लभ राजभोग थी। वह रोज तो मिल नहीं सकती थी।

गाँव के लोग दोपहर में दाना और रस से सन्तोष करते हैं, रात में अपनी-अपनी औकात के अनुसार भोजन करते हैं। आम के दिनों में आम की गुठलियों की कसैली रोटी और गुड़ खाने को मिलता था। उसके अभाव में कोई अन्य छोटा-मोटा अन्न। एक रात किसी ऐसे कदन्न का लिट्टड़ खाने को मिला जिसका जरा सा टुकड़ा भी खाते नहीं बनता था। छोड़ देने में दण्ड का भय था। मैंने चुपचाप उसे आकाश की ओर फेंक दिया। किन्तु मेरा अपराध छिप नहीं सका। पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से खिंच कर वह पड़ोस के आँगन में किसी पुरखिन के सिर पर अनभ्र वज्रपात की तरह जाकर गिरा। उसके श्रीमुख से जो विरुदावली निकली वह किसी की भी सात पुश्त को तार देने के लिए पर्याप्त थी।

परिवार निर्धन था, किन्तु गाँवों की धरती तो अन्नपूर्णा थी। जिस अन्नपूर्णा से भिक्षा लेकर शिव अपने भक्तों को काशी विश्वनाथ के दरबार में चना-चबेना का प्रसाद देते हैं, उस अन्नपूर्णा के आत्मज होकर ग्राममनुज भूखे कैसे रह सकते हैं !

फसल के दिनों में भोजन के लिए विशेष आयास नहीं करना पड़ता था। जाड़े के दिनों में जौ, चना, मटर, सरसों और अलसी की रंग-विरंगी फुलवारी मन को प्रफुल्लित कर देती थी। गर्मी में आम की बहार रहती थी। अमराई की रखवाली बच्चों के जिम्मे थी। लड़कों में यह होड़ चलती कि सबसे तड़के उठ कर कौन डाल से टपकता हुआ टटका आम हथिया सकता है। आम के रूप-रंग-आकार-प्रकार के अनुसार लड़कों ने उसके पेड़ों का नामकरण भी कर दिया था। यों तो अमराई में गाँव के सभी कुटुम्बों के अपने-अपने थोड़े-बहुत पेड़ थे, किन्तु एक पेड़ सबके साझे में, था, आज भी है। उसका नाम है 'नुगौआ'। पकने के पहिले ही उसके टिकोरे दाल में डालने के लिए तोड़ लिये जाते हैं। अलग-अलग घरों में बँटे हुए सारे गाँव के एकत्त्व का वह प्रतिनिधित्त्व करता है। इतना वदान्य है कि अपना वरदान देने के लिए अब भी खूब फूलता-फलता है।

गाँव की सीमा के बाहर आम का एक विशाल वृक्ष श्रीमन्तों की तरह दूर दिखाई देता था। उसका नाम था मलदहिया (मालदह)। उसके फल बहुत बड़े-बड़े होते थे। वह शायद किसी जमींदार का पेड़ था। गगनचुम्बी प्रासाद की तरह उसके डाल-पात इतनी ऊँचाई पर थे कि वहाँ तक पहुँच नहीं हो सकती थी। लड़कों का वश चलता तो वे वर्जित प्रदेश में प्रवेश कर उसकी ऊँचाई को भी गौरीशङ्कर शिखर की तरह नाप लेते।

बच्चों के आकर्षण का एक केन्द्र और था। वह था बिलायती

बबुरी या बिलायती इमली का बाड़ा। उसकी दानेदार फलियों में टॉफी-जैसी हलकी मिठास थी।

बिलायती बबुरी इस देहात में कैसे आ पहुँची ? कोई साहब शायद नील की खेती के लिए यहाँ आ बसे थे। खेत से ऊँची कुर्सी पर खपरैलों से छाई हुई तम्बू-जैसी मण्डपाकार उनकी बहुत बड़ी छावनी थी। आज कल के विदेशी मॉडलों से भिन्न पुराने अँगरेजी ढंग का वह बिलायती बँगला था, जिसमें नागरिक और ग्रामीण स्थापत्य का सम्मिश्रण था। अब भी ईसाइयों की बस्ती और शहरों की सिविल लाइनों में वैसे बँगले देखे जा सकते हैं। वे भारत में अंग्रेजों के आरम्भिक आगमन के स्मृतिभवन हैं।

साहब की छावनी ही देहातियों की बिलायत थी। बाजार के दिन पैठ से लौटते हुए गाँव वालों को साहब अपने बँगले के लॉन पर बुला कर ईसाई धर्म्म का उपदेश देते थे। साँझ के समय उनके घर की मेमें गाँव में जाकर हिन्दी में अपने धार्म्मिक भजन सुनाती थीं। उनका कण्ठ पियानों की तरह सुरीला था। किन्तु बिलायती बबुरी की तरह ईसाई धर्म्म गाँव वालों के हृदय में नहीं रुप सका। वे आम और महुए की तरह रोपे हुए अपने पूर्वजों के सनातन धर्म्म से ही सन्तुष्ट थे।.........

दोपहर में कड़ी धूप से धरती जब तपने लगती तब लड़के पैरों में महुए के चौड़े-चौड़े पत्ते बाँध कर अपने-अपने घरों की ओर चल पड़ते। साँझ को फिर अमराई में बच्चों का समाज जुड़ता। लड़के 'ओला-पाती' खेलते। नीचे जमीन पर एक लड़का डंडे से गुल्ली मार कर पेड़ पर चढ़ जाता। दूसरा लड़का जब गुल्ली लेकर लौटता तब दाँव जीतने के लिए उसे भी पेड़ पर चढ़ कर अपने साथी को छूना पड़ता। वह

इस छोर से उस छोर पर, इस डाल से उस डाल पर भागता-फिरता, और यह बिना उसे छूए छोड़नेवाला नहीं। क्या खूब !—

तुम डाल-डाल, मैं पात-पात,
बिन पकड़े कभी न छोड़ूँ रे
सँग-सँग डोलूँ रे !

इस तरह प्रकृति के क्रीड़ा-कलित क्रोड़ में बच्चों का स्वास्थ्य-संवर्द्धन और मनोरञ्जन होता था।

बरसात के दिनों में जब बाढ़ से कछार डूब जाता तब शेष सृष्टि की तरह अकेली जोन्हरी (जुवार) ही अपना सिर ऊँचा किये खड़ी रहती। जुवार के खेतों में उसकी रखवाली के लिए ऊँची मचान बँधी रहती थी। बाढ़ से घिरी मचानें समुद्र में द्वीप-पुञ्ज-जैसी जान पड़ती थीं। कहीं सूखी जमीन पर जुवार के भुट्टे सेंक कर लड़के मचान पर बड़े चाव से खाते रहते। एक मचान से दूसरी मचान के लड़के जब जोर-जोर से बातें करने लगते तब वे बिना तार और टेलीफोन के ही आकाश में अपना ध्वनि-सम्पर्क स्थापित कर लेते।

छुट्टियों के बाद मदरसा खुलने पर ब्राह्मणों के विद्यानुरागी लड़के तो पढ़ने चले जाते, लेकिन मैं छोटी जाति के लड़कों के साथ प्रकृति की वनस्थली में ही विहरता रहता। सरजू में मछलियों की तरह छप-छप करता, खेतों में गोवत्स की तरह घास-पात चुनता, पेड़ों पर बन्दरों की तरह उछलता-कूदता। अपने साथ मदरसा ले जाने के लिए जब कोई सयाना लड़का मुझे पकड़ने आता तब पेड़ की किसी घनी डाल पर पत्तों की ओट में छिप जाता। प्रकृति के भीतर से कोई अदृश्य शक्ति मुझे अपना लाड़-प्यार देती थी। वह क्या वनदेवी थी ? उस देवी को तो मैं देख नहीं पाता था, किन्तु उसी की सर्वश्रेयस्करी मूर्त्ति का आभास मुझे बहिन में मिलता था।

काशी,
३०-३-५२

साधना की साध्वी

इधर गाँव में मैं निठल्ला घूम रहा था, उधर काशी में बहिन तपस्या कर रही थी। वहाँ न तो खेती थी, न अमराई; केवल जाह्नवी अपनी पवित्र धारा से जीवन को सींच रही थी।

देहात से काशी लौटने पर माँ के बिना सूने घर में बहिन ने जब फिर अपने जीवन का प्रारम्भ किया होगा तब रह-रह कर उसका हृदय कितना कसक उठता रहा होगा। वैधव्य का दुःख उसने जाना नहीं, किन्तु माँ का अभाव वह भूल नहीं सकी। अपनी साँस-साँस में उसी की स्मृति सँजोती हुई वह जीवन की सजल साधना में लीन हो गयी।

बहिन ने पिता से तापस-संस्कार पाया था, माँ से वात्सल्य और गृह-नैपुण्य, अपनी सुकुमार वय से कलानुराग। वैष्णव-काव्य की तरह ही उसने अपनी सुरुचि से धार्मिक शुचिता को भी कला की रुचिरता प्रदान कर दी थी। सामाजिक दृष्टि से वह व्रतवती बालविधवा थी, किन्तु स्वभावतः अपनी माँ की चिरकुमारिका बालिका थी। उसका सतीत्त्व किसी व्यक्ति में सङ्कुचित न होकर सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् में समाविष्ट हो गया था। पिता के वनवास और माँ के गोलोकवास के कारण जब जीवन में वह अकेली पड़ गयी तब भव-सागर में श्रीतुलसी-कृत रामायण उसकी नौका बन गयी। उसी में से वह अपनी समस्याओं का समाधान पा लेती थी।

बहिन उषा की तरह तेजस्विनी थी। वह किसी के दया-दाक्षिण्य पर निर्भर नहीं रहना चाहती थी। कौमार्य्य की पवित्रता और सुन्दरता के अनुरूप ही उसने जीवन-यापन का एक कलात्मक साधन अपना लिया था। उन दिनों बड़े घरों में शौक के तौर पर कई दस्तकारियाँ प्रचलित थीं। साड़ी के किनारों पर टाँकने के लिए गोंटे बुनना भी एक शौक था। बहिन ने इसे शायद मुहल्ले के अग्रवाल घरों की बहुओं से सीख लिया था। उस समय माँ जीवित थीं।

गोंटे की बुनावट में बहिन अपने ही जीवन को एक सुवर्ण शिल्प के रूप में बुन रही थी। प्रारम्भ में उसने भी गोंटा बुनना अन्य दस्तकारियों की तरह शौक के रूप में ही शुरू किया होगा, बाद में वही उसकी आजीविका का भी आधार वैसे ही बन गया जैसे मेरा स्वान्तः सुखाय साहित्य।

गोंटा बुनना बिना पूँजी का परिश्रम था, शायद इसी लिए बहिन ने उसे स्वीकार कर लिया था। दूकानदार सुनहले लच्छे दे जाता, तैयार होने पर मजदूरी देकर गोंटा ले जाता। गोंटे की बुनावट में मिहनत बहुत पड़ती थी, बहिन दिन-रात घंटों पाढ़े पर बैठी उसे बुनती रहती, उसका मृणाल-तन्तु-जैसा सुकोमल शरीर थक जाता, तेल की बाती की तरह आँखों की शक्ति भी चुक जाती, किन्तु अलसाने सुस्ताने से जिन्दगी भला कैसे चल सकती थी! मिहनत के हिसाब से यद्यपि मजदूरी बहुत कम मिलती थी किन्तु बहिन उसी में धर्म्म और कला की मर्य्यादा का निर्वाह कर लेती थी।

जिस साधना की वह साध्वी थी, उसके उत्तराधिकार से मुझे कैसे वञ्चित रख सकती थी! देहात के प्राकृतिक वातावरण से उसने फिर मुझे अपने सांस्कृतिक वायुमण्डल में बुला लिया।

काशी,
२०-३-५२

बाल्यक्रीड़ा

काशी,
१०-४-५२

जिस सरस्वती की आराधना के लिए मैं देहात से काशी आया, वह तो घर में ही बहिन की साधना में साकार थी। बहिन बचपन में जैसे लन्दन मिशन की कन्या-पाठशाला में पढ़ने जाती थी, वैसे ही मै भदैनी के प्राइमरी स्कूल में पढ़ने जाता था। किन्तु बाहर की शिक्षा-दीक्षा में भी बहिन का दिव्य अस्तित्त्व मेरे हृदय में उसी तरह अनजाने अङ्कित होता जाता था जैसे बहिन के हृदय में माँ का मङ्गल व्यक्तित्त्व।

काशी में मेरे बाल्यजीवन की धारा त्रिवेणी हो गयी। घर, स्कूल और नगर, इन तीन दिशाओं में जीवन की गति त्रिपथगा हो गयी।

गाँव के ग्रामीण साथियों का साथ छूट जाने पर नगर के नये संगी-साथी मिले, जो नागरिक होने पर भी मेरी ही तरह अर्द्धग्रामीण थे। शैशव की सरलता और शहर की चपलता का उनमें सम्मिश्रण था। स्कूल हम सबका संगम था।

स्कूल में सभी जातियों के लड़के पढ़ने आते थे। लेकिन अपनी वाल्यावस्था में सब एक ही वर्ण में थे। हम सब एक ही शैशव के अनेक संस्करण थे।

मास्टर के भय से स्कूल की पढ़ाई में मन तो लगाना ही पड़ता था, किन्तु पढ़ने की अपेक्षा खेलने के लिए मन उसी तरह लालायित रहता था जैसे खूँटे से बँधा हुआ बछड़ा उछलने-कूदने और रँभाने के के लिए छटपटाता रहता है।

तब तक उस शिक्षा-प्रणाली (मान्टेसरी शिक्षा-पद्धति) का प्रसार नहीं हुआ था जिससे खेल-खेल में ही शरीर के विकास के साथ मन का भी विकास हो जाता। पढ़ने के लिए वर्णमाला की चित्र-विचित्र पुस्तकें और गिनती सीखने के लिए रंगीन गोलियाँ आ गयी थीं। देहात में प्रकृति का आकर्षण था, यहाँ प्रकृति की मनोहरता का स्थान कुछ-कुछ कला की रञ्जकता को मिल गया था, इसी कारण पढ़ने में मन थोड़ा-बहुत रम जाता था।

उस निरे बचपन की दो पुस्तकें मुझे आज भी याद हैं। एक थी मोटे चिकने आर्ट पेपर पर आसमानी नीले रंग में छपी सचित्र वर्णमाला, दूसरी थी विविध रंगों में चित्रित विचित्र पद्य-कथा। उसका नाम था 'खिलौना'। मुखपृष्ठ पर खूब गदबदी देह की आंग्ल बालिका सरपट दौड़ते घोड़े पर रास थामे खड़ी थी। उसका एक पैर घोड़े की पीठ पर था, दूसरा पैर हवा में। वह खड़ी क्या थी, अपने परियों-जैसे पङ्ख फैला कर घोड़े के साथ-साथ आकाश में उड़ रही थी। अहा, वही क्या हम बच्चों की रानी थी! उसके फैले हुए पङ्खों का उन्मुक्त उल्लास अपने साथ-साथ बच्चों का मन भी अग-जग से ऊपर न जाने कहाँ उठा ले जाता था। जीवन केवल एक उमंग जान पड़ता था। मेरी पीढ़ी के बालकों को उस पुस्तक की ये पंक्तियाँ आज भी याद होंगी—

आ मेरे मुन्ना आ मेरे लाल।
गोद में आकर करो निहाल॥

'खिलौना' सचमुच खिलौना ही था। लड़के उसे बड़े चाव से पढ़ते थे। उनकी बालगोष्ठी में उससे उनका खूब मनोरञ्जन होता था। एक कहानी में गिलहरी का ब्याह था। मित्रमण्डली के जमाव और गाने-बजाने के सरंजाम के लिए बन्दर प्रबन्धक नियुक्त हुआ। वह ढोलकी गले में डाल कर सबसे पहिले पुरोहित शिवराम पांडे (सियार पाड़े) के मकान पर जाकर न्यौता देने लगा—

ढमाढम ब्याह गिलहरी का है सुनिये आज।
आसन-पोथी लेके चलिये पांडेजी महाराज॥

इसी तरह बिल्ली, भालू, बकरा, कुत्ता, हरिन, सबके घर जा-जाकर वह न्यौता दे आया। जीव-जगत के साथ मानवीय बोध बढ़ाने के लिए यह काव्यपाठ था। एक तुकबन्दी गिनती सिखाने के लिए भी थी—

पाँच पूत रामा बुढ़िया के सबका करे दुलार।
उल्लू की बोली सुन एक मर गया रह गये चार॥
चार पूत रामा बुढ़िया के नाचैं धीना धीन।
एक मर गया पछाड़ खाके बाक़ी रह गये तीन॥
तीन पूत रामा बुढ़िया के खेत चले थे बो।
बाघ उठा के एक को ले गया बाक़ी रह गये दो॥
दो लड़के रामा के जिनमें लेता है एक सेंक।
टूट गई है टँगड़ी उसकी, बाक़ी रह गया एक॥
एक पूत रामा बुढ़िया के सदा रहे सुन मुन्न।
वह अपनी ससुराल को चल दिया बाक़ी रह गई सुन्न॥

फूलों से अनुराग जगाने के लिए भी एक सुन्दर पद्य था—

दहने हाथ में मेरे बेला और चमेली जूही।
बाँयें हाथ कनेर जवा गुल्लाला रंगत सूही॥

सोच के मुँह को खोलो।
कौन से लोगे बोलो॥

दहने हाथ के फूलों से बनते हैं गजरे हार।
बायें वालों से गुलदस्ते जिनकी अजब बहार॥

तुम्हें जो भावे सो लो।
कौन से लोगे बोलो॥

आँखमिचौनी के बहाने प्रकृति में विहार करने के लिए भी आकर्षण जगाया गया था—

सघन कुञ्ज में सघन पेड़ एक खूब रहा है छाय।
आओ खेलें आँख मुदौवल उसी के नीचे जाय॥

... ...

बच्चों के पढ़ने का स्थान (विद्यालय) भी उनकी पुस्तक की तरह ही कलात्मक एवं नयनाभिराम होना चाहिये।

भदैनी का प्राइमरी स्कूल पहिले केराये के मकानों में चलता था। बच्चों के खेलने-कूदने के लिए खुली जगह का अभाव था, फिर भी गृह-विन्यास में घरेलूपन था। ऐसा जान पड़ता था कि घर के अन्य कृत्यों की तरह पढ़ाई भी उसी के किसी कक्ष में हो रही है।

म्युनिस्पल बोर्ड ने जब स्कूल की निजी इमारत बनवा दी तब उसका घरेलूपन जाता रहा। एकतल्ली लम्बी सीधी रेखाकार नयी इमारत, बाहर से कत्थई, भीतर से बेरंग है। बीच में थर्ड क्लास के मुसाफिर खाने-जैसा बड़ा-सा हॉल है, अगल-बगल छोटे-छोटे कमरे हैं। वह स्कूल म्युनिस्पल बोर्ड के अन्य आफिसों की तरह पढ़ाई का भी एक महकमा जान पड़ता है।

स्कूल जिस समय नयी इमारत में आया, उस समय अड़ोस-पड़ोस का वातावरण बिलकुल नीरस था। स्कूल के पीछे अघोरी कीनाराम का स्तल (स्थल) उस समय भी था और आज भी है। वह स्तल लोलार्क छठ के मेले के दिनों में ही गुलजार रहता है, बाकी दिनों उसके पेड़ों पर असंख्य चमगीदड़ लिपटे हुए लटकते रहते हैं और कौवे बड़े उत्साह से काँव-काँव करते हैं। अब स्कूल के द्वार पर ही रिक्शों का अड्डा लगा रहता है।

स्कूल के सामने बहुत बड़ा रूखा-सूखा खल्वाट मैदान था। वह मैदान स्कूली कारागार में बन्द छात्रों के लिए मुक्ति के आश्वासन-जैसा लगता था। मैदान के उस पार बमपुलिस था जो अब भी है। पढ़ने में जी चुराने वाले लड़कों को बमपुलिस से राहत मिलती थी। स्कूल में जी न लगने पर लड़के हाजत के बहाने मैदान की ओर चल देते और बमपुलिस में जाकर उस दिन के लिए नागा हो जाते। मास्टरों ने जब लड़कों के इस कौशल को भाँप लिया तब उन्हें लघुशंका के लिए भी छुट्टी देना बन्द कर दिया। सचमुच लघुशंका की जरूरत जान पड़ने पर स्कूली लड़कों की स्थिति उस गँड़ेरिये बालक-जैसी सङ्कटपूर्ण हो जाती जो रोज 'भेंड़िया आया भेंड़िया आया' चिल्लाया करता। होशियार लड़कों ने सङ्कट से त्राण पाने का एक उपाय निकाल लिया था। वे अपनी मूत्रेन्द्रिय को तागे से कसकर बाँध लिया करते थे।

अवकाश के समय स्कूल के सामने का मैदान लड़कों के क्रीड़ा-कलरव से गूँज उठता। वे उसमें दौड़-धूप करते, आपा-धापी करते, स्कूली कवायद करते। लोलार्क छठ के मेले के दिनों में वह सुनसान मैदान भी मेले से भर जाता था। उसमें झुलाने के लिए चखियों, घुमाने के लिए काठ के घोड़ों और तमाशा दिखाने के लिए जादूघरों का ठाट बँध जाता था

बचपन का वह मैदान अब प्रकृति का रम्य निकेतन बन गया है। सम्राट् पञ्चम जार्ज के राज्यारोहण की सिलवर जुबिली (पचीसवीं सालगिरह) के उपलक्ष्य में वहाँ पेड़-पौधों तथा फूल-पत्तों का मनोहर उद्यान सुशोभित हो गया है। रंग-रंग के पक्षी जिस समय इस उद्यान में चहचहाते हैं उस समय यह प्रकृति की अपनी पाठशाला जान पड़ता है।

स्कूल से छुट्टी मिलते ही लड़कों को अधिक खुशी गंगा में तैरने के लिए होती थी, खासकर गर्मियों में, जब कि सबेरे की पढ़ाई के बाद दिन भर का स्वामित्व उन्हें मिल जाता था। गङ्गातटवासी भला कौन ऐसा बालक होगा जो तैरना नहीं जानता होगा। काशी में गङ्गा के घाट-घाट पर माँझियों का निवास है। उनके पड़ोस में रह कर जिसने तैरना नहीं सीखा वह उस काठ की तरह सूखा रह गया जो नाव नहीं बन सका। बच्चों को तो तैरना सीखने में विशेष आयास नहीं करना पड़ता था। मत्स्यशिशु की तरह तैरना उनका स्वाभाविक गुण है। कन्याएँ भी तैरना सीख कर गंगा की गोद में वैसे ही खेलती हैं जैसे माँ की गोद मे।

लड़के स्कूल से छूटते ही घर में अपनी तख्ती और किताब फेंक कर झटपट गङ्गा तट पर जा पहुँचते थे। स्कूल के छूटे साथी फिर जाह्नवी की गोद में आ मिलते थे। वहाँ कोई भय नहीं, बन्धन नहीं, कितनी स्वतन्त्रता थी! खाना-पीना भूल कर लड़के घण्टों गंगा की गोद में सन्तरण करते थे। अहा, कैसी-कैसी वे जलक्रीड़ा करते थे! उनके खेल-कूद से गंगा, सागर की तरह मथ जाती थीं।

नावों और बजड़ों की पेंदी के नीचे जैसे जलभौंरों का जमघट रहता था वैसे ही गंगा में लड़कों का। हाथों के हिलकोर अथवा पानी के छींटे से जब भौंरे इधर-उधर भागने लगते तब ऐसा जान पड़ता मानों

किसी मेले में भगदड़ मच गयी है। लड़के भी तो एक दूसरे को छूने-भागने और डुबकी लगाने में इसी तरह तितर-बितर हो जाते थे। तैरने में भौंरों-जैसी फुर्ती (स्फूर्त्ति) पा जाने के लिए लड़के उन्हें जीवित ही जल के साथ पी जाते थे।

जल में आँखमिचौनी खेलते समय डुबकी लगा कर लड़के बड़ी दूर उतरा कर तैरते-तैरते उस पार जा पहुँचते। वहाँ पहुँच कर वे किसी नये देश में आ जाते। परदेस में परिचितों को पाकर जो एक नयी प्रसन्नता होती है वही प्रसन्नता लड़कों को उस पार मिलती थी।

ब्रज का आनन्द यमुना में तरङ्गित होता था, बनारस का रस गङ्गा में लहराता आया है। होली के बाद 'बुढ़वा मङ्गल' का मेला गङ्गा में ही अपना राग-रंग जमाता था। वह सरिता की धारा में जीवन के रस-प्रवाह का रेला-मेला था; सौन्दर्य्य, सङ्गीत और नृत्य का कला-महोत्सव था। घाट-घाट पर छोटी-छोटी नावों से लेकर बड़े-बड़े बजड़ों का मोतियों के गुच्छों की तरह जब झूमड़ बँध जाता था तब ऐसा जान पड़ता था कि स्वर्ग ही खण्ड-खण्ड टूट कर यहाँ पर जुड़ गया है। जीते जी स्वर्ग का यह नज़ारा देखना बनारस के ही भाग्य में था। वह रईसों के वैभव विलास का युग था।

वह बड़ों का मेला भी बच्चों के लिए एक तमाशा था। वे किनारों पर घूम-घूम कर या घाट के किसी बुर्ज पर बैठ कर उसे देखा करते थे।

बुढ़वा मङ्गल की अपेक्षा पृथ्वी के उत्सवों में बच्चे सक्रिय भाग लेते थे। होली के दिन उनका उत्साह उमड़ पड़ता था। अभी ठीक से हम बच्चों की तुतलाहट नही टूटी थी। होलिका-दहन के दिन लकड़ी-गोहरी-गोंइठा माँगने के लिए जब वे मुहल्ले-मुहल्ले की फेरी लगाते तब कहते—

हाथी घोड़ा पालकी
जय कन्हैया लाल की
होलकी मैया देलसी
लड़िकन जीयें लाख बरीस ।

बच्चों की बाल्यक्रीड़ा के अगुआ कृष्ण-कन्हैया ही तो हैं। हम सब कृष्ण-राज्य की ही प्रजा थे। उनके सिवा हम और किसकी जय मनाते ! उन्हीं का राजपाट और उन्हीं का ठाट-बाट हमारा सपना था—

हाथी घोड़ा पालकी
जय कन्हैया लाल की !

बच्चों को क्या 'ल' कार में ही लालित्य मिलता है? शायद इसी लिए वे दे असीस को 'देलसी' और मन्दिर को 'मन्दील' कहा करते थे।

होली, दीवाली, विजयादशमी, श्रावणी, इन त्यौहारों में बच्चों का मन उमँगता ही था, इनके अतिरिक्त त्यौहारों को सगुण रूप देने वाली लीलाएँ भी उन्हें वैसे ही आकर्षित करती थीं जैसे रँगीन चित्रों की बालपोथी। रामलीला और कृष्णलीला को बड़े-बूढ़े धार्मिक दृष्टि से देखते थे, बच्चे भावुक दृष्टि से। राम और कृष्ण बच्चों को अपने जीवन-सखा जान पड़ते थे, उन्हीं-जैसे लड़के ही तो राम-कृष्ण बनते थे। उनके पास पहुँच कर उनसे अपनापन जोड़ने, उन्हें स्पर्श कर उनमें खो जाने के लिए बच्चे लालायित रहते थे। उनकी मनःस्थिति वैसी ही थी जैसी जनकपुर में राम-लक्ष्मण के साथ-साथ भ्रमण करने वाले बालकों की—

पुर बालक कहि-कहि मृदु बचना।
सादर प्रभुहिं देखावहिं रचना ॥

सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तनु पुलकहि अति हरषि हिय देखि देखि दोउ भ्रात॥
—(मानस : बालकाण्ड)

उन राजकुमारो के सौन्दर्य्य का ऐश्वर्य्य ही बालको का मन मोहित कर लेता था। पारस के स्पर्श से जैसे लोहा सोना हो जाता है वैसे ही सौन्दर्य्य के स्पर्श से बच्चे अपने को साधारण से असाधारण हो जाने का अनुभव करते थे।

जनकपुर के राजमार्ग मे जो नवागन्तुक राजकुमार बालको के लिए अनायास सुलभ हो गये थे वही स्वयंवर के राज-समाज मे जाकर कितने दुर्लभ हो गये! इसी तरह रामलीला और कृष्णलीला के लीलाधर भी क्या बच्चो की पहुँच के बाहर नही थे?

एक दिन रामलीला समाप्त होने पर जब भीड छॅट गयी तब समीप पहुॅच कर आरती की झाँकी लेने और निकट से राम-लक्ष्मण-सीता को देख लेने के लिए, बच्चों मे हडबडी मच गयी। सब उसी ओर दौडपडे।...

हमारे मुहल्ले की रामलीला तुलसी घाट से शुरू होती है। ज्यो-ज्यो विजयादशमी करीब आती जाती है त्यो-त्यो लीला नगवा की ओर खिसकती जाती है। उन दिनो हिन्दू विश्वविद्यालय का निर्म्माण नहीं हुआ था। चारो ओर खेत ही खेत था। आज जहाँ सरदार रेस्टुरेन्ट है, उसके सामने के कुएॅ की जगत से लगा हुआ लम्बा टीला था। उसी पर राम-लक्ष्मण-सीता का सिंहासन शोभता था। जब आरती की झाँकी लेने के लिए लडको मे हडबडी मची तब वे कुएॅ की जगत पर जुड़े हुए थे। उस समय कुआँ देसी ढंग का था, साहबी ढंग का नहीं। उतावली मे जब लडको के पीछे मै भी दौडा तो अरर-र-र-र-धम्म! यह क्या? मैं कुएॅ के गहन गह्वर मे जा गिरा।

कृष्णपक्ष की घनघोर अँधेरी आधी रात! उस कालरात्रि में यह मनुज-शिशु पृथ्वी के नाभि-प्रदेश में पाताल की थाह ले रहा था! यह भी क्या एक लीला नहीं थी? मेरी लीला देखने के लिए भला किसको अवकाश था, सब लोग आरती में लगे हुए थे। आरती समाप्त होने पर जब घर ले जाने के लिए लड़कों की गिनती होने लगी तो एक लड़का गायब था। लोगों में घबड़ाहट फैल गयी। उधर बाहर लोग मुझे ढूँढ़ रहे थे, इधर कुएँ में मैं 'पंचकोशी' की परिक्रमा कर रहा था।

गिरते समय हवा के झोंके से टोपी उधिया कर न जाने कहाँ उड़ गयी। उसका मुझे खेद नहीं, कुएँ में पहुँचते ही सबसे पहिले मुझे फिक्र हुई हनुमान जी के चेहरे की, जिसे मैंने बड़ी साध से मोल लिया था। पानी से भींग कर दुपट्टा देह में जटिल नागपाश की तरह जकड़ गया था। देह ढीली कर किसी तरह दुपट्टे को सुलझाया और कुएँ के बीचों बीच में मँडलाने लगा। दीवार से भय लगता था। एक बार दीवार छू जाने पर हाथ में कुछ चिकना-चिकना आ लगा था। वह तो लोहे का सिक्कड़ था, जिसे भ्रम से मैंने साँप समझ लिया था।

किसी के सजग कानों ने दूर से धम्म की आवाज सुन ली थी। उसने सोचा, शायद कोई डोल, बाल्टी या गागर गिर गया है। जब बाहर मेरा पता नहीं चला, तब उस भले आदमी ने अपना सन्देह मिटाने के लिए सबको कुएँ की ओर प्रेरित किया।

'अरे भीतर है कोई ?'—उत्तर में कुएँ को प्रतिध्वनित करती हुई भूत-जैसी मेरी आवाज सुनाई पड़ी—'मैं हूँ भैय्या !'

'अरे लड़का गिरा है लड़का !'—सुनते ही सबमें खलबली मच गयी। निकालने की समस्या जटिल हो पड़ी। चारों ओर खेत, देहात दूर, सुनसान अँधेरी रात; कहिये, क्या किया जाय ?

जीवन-सङ्कट में लाइफ वोट की तरह अचानक लोटा खींचने की डोरी मेरे सिर पर आ पड़ी। मैंने तिनके के सहारे की तरह उसे पकड़ लिया। ऊपर से मुझे जो कुछ आदेश-निर्देश मिलता था उसे संकेत-रूप में ग्रहण कर लेता था,. सुन नहीं सकता था। कैसी लाचारी थी!

थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद गागर खींचने का रस्सा आ पहुँचा। वाचक, मेरी स्थिति में यदि आप होते तो उस रस्से का क्या उपयोग करते? मैंने रस्से के फन्दे में अपने पंजों को गागर की तरह कस लिया, फिर दोनों हाथों से रस्से को पकड़ कर खड़ा हो गया। घर्घर-घर्घर सर-सर-सर-सर-सर! मैं सेकिन्डों में ही कुएँ की जगत पर उसी तरह आ गया जैसे पनडुब्बा समुद्र के अतल गर्भ से धरातल पर आ जाता है।

कहते हैं, जब सूरदास कुएँ में गिर पड़े थे तब कृष्ण ने बाँह पकड़ कर उन्हें निकाल लिया था। इसका अर्थ तो यही जान पड़ता है कि मनुष्य से जो गलती अनजाने हो जाती है उससे प्रभु उसे उबार लेते हैं।

काशी
२०।४।५२

लीला और मेला

रामलीला की अपेक्षा कृष्णलीला बच्चों के स्वभाव के अधिक अनुकूल पड़ती है। कृष्णलीला जाड़ों में तुलसीघाट पर होती है। नागनथैया देखने के लिए सारा बनारस उमड़ पड़ता है। गंगा में 'बुढ़वा मंगल' के मेले की तरह नावों और बजड़ों का फिर जमघट लग जाता है। घाट की सीढ़ियों, बारजों और छज्जों पर रंग-बिरंगे कपड़े पहने अपार जन-समूह का जमावड़ा बड़ा अच्छा लगता है।

कृष्णलीला की समाप्ति 'दसो अवतार की झाँकी' से होती है। मत्स्य, कच्छप, बराह से लेकर राम, कृष्ण, बुद्ध इत्यादि सभी अवतारों के युग-युग की झाँकी किसी मढ़ी या किसी बजड़े के छोटे से रङ्गमञ्च पर ही सजीव हो उठती है। वामन अवतार में बच्चे अपना ही प्रतिरूप पा जाते हैं।

तुलसीघाट के अतिरिक्त मुहल्ले के रईस बाबू अशर्फीलाल सिंह (जमींदार) के यहाँ भी नागपचैयाँ (नागपञ्चमी) से रात में रामलीला होती थी। उसमें देसी नाटक मण्डली का नाट्यकौशल रहता था और कई कथाओं का सम्मिश्रण। बीच-बीच में प्रहसन भी जुड़ जाता था। एक दृश्य संस्कृत पाठशाला का था। गुरु की आज्ञा से कोई विद्यार्थी 'अमरकोष' पढ़ने के लिए खड़ा हुआ। उसकी पहली पंक्ति इस प्रकार है—

यस्य ज्ञानदयासिन्धोरगाधस्यानघा गुणाः ।

ज्योंही छात्र के मुख से 'यस्य ज्ञानदयासिन्धो' निकला त्योंही दूसरा छात्र बोल उठा—'लगा धक्का गिरा पड़ा' और सचमुच गुरु जी के डंडे से अपनी पैरोडी का पुरस्कार पाकर वह गिर पडता ।

धनुष-यज्ञ के दिन लक्ष्मण जी का संवाद ही नहीं, परशुराम का रौद्र अभिनय भी सबको हँसा जाता ।

प्रह्लाद का चरित्र करुणा रस से सजल था। राम नाम की टेक न छोडने पर जब उन्हें फाँसी की सजा मिली तब वे बड़े दर्दीले स्वर में सबसे बिदा लेने लगे—

इधर वालों से राम, उधर वालों से राम ।
नगर वालों से राम, मेरी राम राम राम ॥

बच्चों का जी रुलाई से भर आता। उन्हें ऐसा जान पड़ता कि उन्हीं का कोई साथी बिछुड़ रहा है ।

काशी की सांस्कृतिक भूमि में बराबर कोई न कोई धार्मिक उत्सव होता रहता है। जिन देवी-देवताओं का समावेश लीला मे नहीं हो सका, उनके नाम पर मेले चल पड़े। लोलार्क कुण्ड, दुर्गाकुण्ड, लक्ष्मीकुण्ड, सङ्कट मोचन, जगन्नाथजी (रथयात्रा) के मेले आज भी अपनी परम्परा निभाये जा रहे है ।

बिना पैसे के बच्चे भला मेला कैसे देख सकते है ? खिलौनो और खाने की चीजों के लिए उन्हें भी पैसे चाहिये ।

जैसे हम अर्द्धग्रामीण शिशु थे वैसे ही हमारे खेलने के खिलौने और खाने की चीज़ें थीं। हनुमान जी का चेहरा (मुखौटा) सब लड़कों

को आकर्षक लगता था, उसी को अपने मुख पर लगा कर वे महावीर बन जाते थे। बाँस की धनुही और सनई के तीर लेकर वे रामलीला के रामचन्द्र की तरह पैंतरा भाँजते थे। मिट्टी के उन बुढ़वा-बुढ़िया से बच्चों का खूब मनोरञ्जन होता था जिनका सफ़ेद सिर और पोपला मुँह ठुड्डी छू देने से ऐसे हिलने लगता था मानों वे सचमुच के बुढ़वा-बुढ़िया हों।

मिट्टी की गोल-गोल गोलियाँ, चकडोरी, लट्टू, फिरहरी, पिपिहरी, सीटी, सीकुल, घुनघुना, पहियेदार छोटा तासा, इन सब में बच्चों का मन खेलता-खिलता और गूँजता रहता था।

मेले-ठेले के दिन चिवड़ा और रेवड़ी तो बनारस की खास चीज है। बच्चों से लेकर सयाने तक चाव से खरीदते खाते हैं। चीनी या गुड़ की पट्टी, सोमपपड़ी, नानखताई, रामदाने का लड्डू, बड़े बड़े जलेबा, गुलाब गड़ेरी, मलाई की बरफ़, इन सबका स्वाद भी सयानों के मुँह में बचपन से ही समाया हुआ है। खोमचेवालों की आवाज से आज भी क्या उनका मन अपने बचपन की ओर नहीं लौट जाता? लड़कपन में मुझे दो चीजें बहुत पसन्द थीं—रंगीन पतंग और नमकीन पकौड़ी। पतंग तो शरारती लड़के छीन-झपट कर फाड़ देते, लेकिन पकौड़ी मेरे भाग्य में थी।

मुझे जब पैसे की जरूरत पड़ती तब पिता जी के पास चला जाता। दीमक की मिट्टी में फेंके हुए उनके अधेले-पैसे मुझे मिल जाते। मैं टीन की चिपटी रंगीन डिबिया में पैसों को भर कर उसे घुनघुने की तरह बजाता रहता। मुहल्ले के अन्य लड़के मेरे पैसों के साझीदार हो जाते।

पैसा न रहने पर लड़के मिट्टी के ठीकरों को पैसे के आकार-प्रकार में गोल-गोल काट-छाँट कर, पत्थर पर घिस कर चिकना-चिकना

पैसा बना लेते और खोमचेवालों को चकमा देने का प्रयत्न करते। उनकी कारीगरी प्रशंसनीय थी, किन्तु दुनिया क्या उन्हीं की तरह नादान थी !

यदि कभी मै पिता जी के पास नही पहुँच पाता तो घर में ही पैसा ढूँढ़ने लगता। बहिन की गाढ़ी कमाई पैसों की गड्डी के रूप में रक्खी मिल जाती। उसमें से मै केवल एक ही पैसा लेता। उस अनजान वय में भी मेरे शिशुमन ने किसी तरह समझ लिया था कि उस निराधार निरीह विधवा बहिन का धन कितना पवित्र है ! उसे असुविधा नहीं होने देनी चाहिये।

बहिन निर्धन तपस्विनी थी, किन्तु उसकी तपस्या मे राजरानी मीरा की कला-साधना थी, इसीलिए उसने मुझे कभी रंक और कुरूप नही होने दिया। स्वयं कष्ट उठा कर अपने स्वल्प वित्त से वह मेरे जीवन को सुसज्जित रखती थी ।

आपने क्या कभी मेले मे साफ़-सुथरे साधारण सूती वस्त्र पहिने, सिर पर सलमेसितारे की सस्ती सुनहरी टोपी लगाये, किसी बालक को ध्यान से देखा है ? वही मेरा उस समय का विन्यास है। मेरे कानो में सोने की दो बालियाँ झूलती रहती थीं। जाड़े के दिनो में बहिन गहरे गुलाबी रंग के ऊन से बुन कर खुशनुमा जूते पहना देती थी। ऐसी थी उसकी शृंगारमयी रुचि !

लीला और मेले के अतिरिक्त घर की राह-बाट में भी बच्चों के लिए मनोरञ्जन आ जुटता था। झाड़-फूँक करनेवाले साईं, भभूत रमाये हुए जोगी-जती अपनी विचित्र वेश-भूषा से मन को अभिभूत कर लेते थे। बन्दर और भालू नचानेवाले मदारी, बाँस से बँधी डोरियों पर थिरकनेवाले खिलाड़ी अपनी क्रीडा-कुशलता से चकित कर देते थे।

और यह कौन है जो ऊँचे पाये की पिटारी में तरह-तरह के चित्रों को दिखा-दिखा कर बालदृगों को लुभा लेता है? अहा, उसकी पिटारी में कैसी-कैसी, कहाँ-कहाँ की दुनिया आ बसी है! उसकी पिटारी को ही बच्चे 'बाइस्कोप' कहा करते थे, शीशे के दो गोल-गोल झरोखों से झाँक कर वे अग-जग की झाँकी ले लेते थे।

यों ही पढ़ते-खेलते मेरे बचपन के दिन सरलता से सरकते चले जा रहे थे। मैं अभी हिन्दी के दर्जा में एक था कि कुटुम्ब की किसी कन्या के विवाह में सम्मिलित होने के लिए बहिन के साथ फिर देहात चल देना पड़ा। काशी को छोड़ते हुए मन उदास हो गया। काशी—ओह, मेरे इतने दिनों की रंगस्थली!

काशी,
२०-४-५२

अप्रत्याशित निमन्त्रण

काशी,
४-५-५२

जिस विवाह के उपलक्ष्य में देहात आया वह मेरी यात्रा का सफल सगुन बन गया। उसके बाद ही तो जीवन की धारा सारस्वत धारा बन गयी।

... ...

नागरिक समारोहों की अपेक्षा गाँवों के वैवाहिक उत्सव अधिक स्वाभाविक और सुन्दर लगते हैं। गाँव के बाहर अमराइयों में बारात उतरती है, वहीं 'जनवासा' होता है, वहीं शास्त्रार्थ, वहीं नाच-गान। ऐसा जान पड़ता है, प्रकृति के पट-मण्डप में ऋतुराज ही वन-महोत्सव मना रहा है।

बारात की ज्योनार, सखियों के हास-परिहास, कन्या की करुण बिदाई, इन सबमें ग्राम्यगीतों का रस छलका पड़ता है। तुलसीदासजी ने अवधी में जो अकृत्रिम वैवाहिक दृश्य दिखलाये है वे गाँवों की ही सुषमा की याद दिलाते हैं—

जहँ-तहँ जूथ जूथ मिलि भामिनि।
सजि नवसप्त सकल-दुति-दामिनि॥

बिधुबदनी मृगसावक-लोचनि ।
निज सरूप रति-मान-विमोचनि ॥
गावहिं मङ्गल मञ्जुल बानी ।
सुनि कलरव कलकण्ठ लजानी ॥

सबेरे बारात की बिदा के दिन कन्या-पक्ष के द्वार पर नाच-गान होता है। गुलाब जल से सिक्त होकर वातावरण तरल और सुवासित हो उठता है।

देहाती बारातों में प्रायः हरिजन ही नाचने-गाने-बजानेवाले 'समाजी' होते हैं। हरिजन किशोर नाचता-गाता है, अपने हाव-भाव से गीतों को साकार करता जाता है। उसके सीधे-सादे सरस नृत्य से मन जितना उद्दीप्त हो उठता है उतना नागरिक नृत्यों की अङ्ग-भङ्गिमा से नहीं। रासलीला में शायद उसी ग्राम्यनृत्य का कला-विकास है।

बारात के बिदा हो जाने पर झनकार-शून्य सितार की तरह गाँव सूना हो जाता है। सब अपने अपने दैनिक जीवन में संलग्न हो जाते हैं।

बहिन तो फिर काशी चली गयी और न जाने क्या सोच कर मुझे देहात छोड़ गयी। मैं अपनी पिछली ग्रामीण दिनचर्य्या की पुनरावृत्ति करने लगा।

इस बार गाँव में आकर देखा, कल तक जिनके हाथ छोटे-छोटे थे अब वे किसानी में लग गये हैं। किसानी में भला मैं उनका साथ कहाँ तक दे सकता। फिर भी हाथ में खुरपी और खाँची लेकर सरजू के उस पार उनके साथ घास छोलने जाता था। वे तो अपने काम में लग जाते और मैं घास की खोज में इधर-उधर निरर्थक भटकता रहता,

हरियाली में खोया-खोया उन कृपककुमारों के कार्य्य-कुशल करों का कौशल देखता रहता। दोपहर में जब वे अपनी-अपनी खाँची लेकर चलने लगते, तब देखते, मेरी खाँची में ग्रास-भर भी घास नहीं है। घर का भय दिखला कर वे मुझे भयभीत कर देते। अनुनय-विनय करने पर वे अपने-अपने हिस्से से थोड़ी-थोड़ी घास देकर मेरी खाँची का खोंखलापन ढँक देते।

गाँव के ठोस लड़के मुझे बुद्धू समझते थे। नगर के लड़के भी मुझ पर ही अपनी धौंस जमाते थे। किन्तु मैं सबसे अलग आत्म-विलीन भावुक था। वातावरण में जल के ऊपर 'स्नेह' की तरह बहता रहता था।

बाहरी संसार से अनमिल होते हुए भी जहाँ-जहाँ मुझे नैसर्गिक उल्लास मिलता वहाँ-वहाँ मेरा मन उमँग उठता। सरजू में तैरना और अमराइयों मे खेलना मेरे स्वभाव के अनुकूल था।

जब आम की बहार के दिन चले जाते तब उनकी गुठलियों से बरसात में अमोले उग आते। कैसे चिकने-चिकने, कोमल-कोमल, उनके हरे-हरे-अरुणारे पत्ते थे! लड़के उन्हें उखाड़ कर पिपिहरी बना लेते। ओठों पर साँस ले फूँक कर जब वे उसे बजाते तब ध्वनि निकलती—पी ई ईं......! अरे, यह तो बच्चों के रोने-जैसा स्वर है। क्या आम का अमोला अपनी धात्री (धरती) से बिछुड़ कर रो रहा है!

लड़कों में जितने ही छोटे कद का मैं था, कलसों मे उतने ही छोटे कद का नन्हा गागर लेकर साँझ को कुएँ पर पानी भरने जाया करता था। गागर तो मैं खींच लेता, लेकिन उसे कुएँ के बाहर 'जगत' पर नहीं ला पाता। एक दिन गागर खींचते समय रस्सी

हाथ से छूट गयी, झटके से मेरे पैर उखड़ गये। कुएँ में गिरने से बचने के लिए मैं झट से 'घरारी' (कुएँ के बीचोबीच पाँव टेकने का काठ) पकड़ कर उससे चिपक गया, जीवन-मरण के बीच अधर में अटक गया। साँप के भय से मैं नीचे गिर नहीं सकता था, बिना किसी सहारे के ऊपर आ नहीं सकता था। कैसा संकट था ! क्या इसी का नाम भव-संकट है !

घरारी पकड़े-पकड़े हाथ दुख गया, चेहरा तमतमा गया, बस, कुछ सेकिण्डों में ही नीचे जा गिरता कि अचानक गाँव की कँहारिन (तुलसी कँहार की दुलहिन) पानी भरने के लिए कुएँ पर आ पहुँची। वह यह दृश्य देख कर ठिठक गयी। बोली—ई का महराज ! (यह क्या महाराज !)*

मैंने विकल कण्ठ से कहा—पहिले मुझे निकालो तो !

उसने अपने सधे हुए हाथों से कलश की तरह ही मुझे निकाल लिया।

जाड़े के दिन आ गये थे। साँझ को मैं खेतों की ओर चला जाता। अपनी खाँची में बटोर-बटोर कर अरहर के सूखे पत्तों को तापने के लिए घर ले आता।

जाड़ों की मीठी धूप में ईख की मधुरता भी भिनी रहती है। सबेरे लोग ईख छीलते हैं, दोपहर में गँड़ेरी काटते हैं, साँझ से कोल्हू में उसे पेरते हैं, रात में 'गुलउर' में गुड़ पकाते हैं। वह सब दृश्य प्रकृति के सरस समारोह-जैसा जान पड़ता है। लड़कों का मन भी रस में पग जाता है। वे बड़े चाव से 'काँतर' (कोल्हू की चर्खी) पर बैठकर

---

* गाँवों में ब्राह्मणों के छोटे-से-छोटे लड़के को भी अपर जाति के आबाल-वृद्ध-वनिता आदर की दृष्टि से देखते और अभ्यर्थना करते हैं।

बैलों को हाँकते हैं। काँतर कभी झूले की तरह आकाश में उठ जाती, कभी जमीन के पास आ जाती। कोल्हू की चर्र-चूँ काँतर के आरोह-अवरोह में ताल देती रहती। बिना पाँख के ही काँतर पर लड़कों को पक्षियों की तरह उड़ने का आनन्द मिल जाता।

ईख की पिराई के दिन गाँव में 'रतजगा' होती है। बारी-बारी से सभी घरों को अपने-अपने बैल लेकर कोल्हू का साथ देना पड़ता है। एक ओर अलाव पर बैठ कर गाँव के लोग-बाग हँसते-बोलते और न जाने कहाँ-कहाँ की कितनी नई-पुरानी बातें कहते-सुनते हैं, दूसरी ओर लड़के अपनी दुनिया में धमाचौकड़ी मचाते रहते हैं। खेलते-खेलते जब उन्हें नींद आने लगती तब कोल्हाड़ के आस-पास गँजे ईख के सूखे पत्तों के अम्बार में घुस जाते हैं। उस पर्णशय्या में उन्हें तोशक और रजाई से भी अधिक सुख मिलता है।

शहर की मिठाई की तरह गाँव में गुड़ भी गरीब लड़कों के लिए दुर्लभ ही है। किन्तु 'गुलउर' से वे भी कुछ न कुछ पा ही जाते हैं। 'महिया' (कड़ाही में खौलते रस की फेन) सभी लड़कों के भाग्य में थी, वे उसे या तो शहद की तरह चाटते या रोटी के साथ खाते थे। सींक में आलू पिरो कर कड़ाही में डाल देने से गुड़पाक बन जाता, वही बच्चों का गुलाब जामुन था। कड़ाही से राब या खाँड़ निकाल लेने पर जो तलछट बच जाती उसी में पानी मिला देने से गरम-गरम रस बन जाता, जाड़े में वही चाय का मजा देता। ईख या गुड़ के रस को मैं 'मिठाई का पानी' कहा करता था।

प्रकृति के भीतर से गाँव में मुझे जितना जीवन मिल सकता था, उसी से मैं मगन रहता था। किन्तु पारिवारिक पोषण के अभाव में शरीर की तरह मस्तिष्क भी निर्बल पड़ गया, सिर चकराने लगा, आँखें झाँय-झाँय करने लगीं।

बबुआ (मँझले चाचा) बहुत पहिले दिवङ्गत हो चुके थे। घर में काका-काकी (छोटे चाचा-चाची) का एकाधिपत्य था। उनसे किसी को क्या ममता मिल सकती थी, वे अपने ही राग रंग में रसलीन थे।

घर की पुरानी मर्य्यादा की तरह बड़की माई (वृद्धा दादी) अब भी अवशेष थी। उसी की माया-ममता से वात्सल्य का अनुभव होता था। भूसे और पुआल की कोठारी में उस असमर्थ अन्नपूर्णा का निवास था। रात में सोने के पहिले, कुटुम्ब की कन्याएँ और लड़के उसी के अगल-बगल बैठ कर कहानियाँ सुना करते। शैशव की तरह ही सरल उन कहानियों (दन्तकथाओं) से शिशुओं का मन ग्राम्य-गृहस्थों के न जाने किन सुखद सामाजिक स्वप्नों में कहाँ-कहाँ विचरने लगता।

कहानियों के कल्पना-जगत की तरह ही मेरा भविष्य भी अदृश्य था। अचानक एक दिन किसी दूर गाँव से मेरे नाम बुलावा आ गया।

मेरी छोटी बहिन का व्याह आमिला में हुआ था। वह सौभाग्यवती थी। काशी से बड़ी बहिन का पत्र पाकर छोटी बहिन के स्वामी ने ही मुझे अपने संरक्षण में ले लेने के लिए बुला भेजा था। इस अत्याशित निमन्त्रण से मैं प्रसन्न नहीं हो सका। मुझे अपने गाँव से मोह हो गया था।

मोह से यदि मैं गाँव में ही रह जाता तो मेरे जीवन का क्या स्वरूप होता ? किसी दीन-हीन दूबर-पातर लड़के की तरह इधर-उधर मारा-मारा फिरता। जिस वृद्धा दादी के वात्सल्य से मैं भी किसी घर का लड़का था वह तो अतीत की अतिथि थी। वर्त्तमान काका-काकी

की कटुता से विषाक्त था। यदि माँ के बाद काशी में बहिन का अस्तित्त्व न होता तो.........!

सचमुच, बड़ी बहिन कल्पवती ही मेरे जीवन की गति-यति-नियति थी।

बार-बार बुलावा आने पर जब छोटी बहिन के यहाँ जाने के लिए विवश होना पड़ा तो मैंने अपनी देहाती बोली में पूछा—ऊहाँ ऊँख क पेड़ हौवे? रस, दाना अउर छिम्मी-उम्मी मीली?

सयानों ने हँस-हँस कर मेरा समाधान कर दिया।

उस बड़े घर में एक ही परिवार के तीन-चार कुटुम्ब रहा करते थे। जिन्हें मेरे कुटुम्ब से लाग-डाँट थी उन्होंने सहानुभूतिपूर्वक कहा—बेचारा अरहर की सूखी पत्तियाँ ला-लाकर जाड़े में बड़ा आराम पहुँचाता था। देखें, अब लोग कैसे 'तपनी' तापते हैं।

गाँव से बिदा के दिन मेरे लिए कोई परिधान नहीं था। हरिजनों के लड़के जैसा फटा-टूटा कौपीन पहन कर घूमते हैं वही मेरी कमर में था। आखिर काकी की नारी-सुलभ शालीनता जग पडी। उसने काका से कहा—इसे एक धोती तो चाहिये ही।

काका ने कहा—उँह!

तब, उनकी निर्लज्जता को बड़ी बहिन के हाथ से सिले एक लम्बे सूती पुराने कोट से ढँक कर कुटुम्ब के रामलाल चाचा के साथ मैं छोटी बहिन के यहाँ चल पड़ा। उन्हें उसी ओर कहीं जाना था। अमिला पहुँच कर रामलाल चाचा इस अनोखे अतिथि को छोटी बहिन के द्वार तक नहीं ले जा सके, इसमें उन्हें हेठी जान पड़ी। मुझे बाजार के ही किसी आदमी को सौंप कर वे चलते बने।

काशी,
८।५।५२

अन्तःप्रस्फुटन और वातावरण

'यह लो, दुलहिन, तुम्हारे मायके से कोई आया है !'

छोटी बहिन हौले-हौले द्वार पर आकर मेरे धूल-धूसरित कलेवर को ध्यान से पहिचानने लगी। काशी में जब मैं एकदम नन्हा-सा था तभी वह ससुराल आ गयी थी। समय के व्यवधान से गाँव का यह गरीब क्या-से-क्या हो गया था ! देहात की मिट्टी के मटमैले आवरण को भेद कर वह बोल उठी—अरे, यह तो मेरा मुच्छन है !

माता-पिता-भाई-बहिन सबसे बिछुड़ा हुआ छोटी बहिन का हृदय अपने सहोदर को पाकर आँसुओं में उमड़ आया। बड़े प्यार से वह मुझे भीतर ले गयी। घण्टों मल-मल कर नहलाया-धुलाया। आँचल से पोंछ कर उसने फिर मुझे माँ का लाल बना दिया।

छोटी बहिन ने अपने छोटे भाई को जिस प्रेम और ममता से हाथों-हाथ लिया, उस सुख से भी सुखी न होकर मैं महीनों तक रोता-कलपता रहा। ऐसा जान पड़ता था कि मैं किसी बेजाने देश में निर्वासित कर दिया गया हूँ। वन-विहंग को जैसे अपनी कँटीली झाड़ियाँ भी प्यारी लगती हैं वैसे ही मुझे अपने गाँव की कटु स्मृतियाँ भी सुहावनी लगती थीं। मुझे सबसे अधिक याद अपनी वृद्धा दादी की आती थी। रात के सन्नाटे में, मेरी आँखों के छोटे-छोटे स्वप्नों में उस वृद्धा दादी की स्नेह-करुण मूर्त्ति अपनी दुर्बल बाँहें फैला देती थी।

सबेरे उठते ही जीजा से प्रार्थना करता—मुझे मेरे गाँव पहुँचा दीजिये; आपको पीली धोती दूँगा, बहुत-सा गुड़ दूँगा।

घर के लोग मेरी बातों पर हँस देते। मैं कैसा दाता था, यह तो मेरी वेश-भूषा से ही मालूम हो गया था। स्वयं मुझे क्या चाहिये, मेरी फटी हालत ही बतला देती थी।

मेरा रोना रुकता नहीं था। अड़ोस-पड़ोस के लड़कों के लिए भी मैं एक कौतुक बन गया। वे अपने साथ पढ़ने के लिए मदरसा ले जाना चाहते, मैं गाँव जाने के लिए हठ करने लगता।

मेरे क्रन्दन में लड़कों का कलरव-कोलाहल दुख में सुख की तरह आ घुलता था, उनसे हेल-मेल न होने पर भी मन का भार भीतर ही भीतर हलका हो जाता था। एक दिन जीजा ने लड़कों से साँठ-गाँठ कर खेल खेल दिया। झूठ-मूठ की चिट्ठी लिख कर डाकखाने में छोड़ने के लिए किसी के हाथ भेज दिया। डाकखाना मदरसे में ही था। लड़कों ने कहा—तुम्हारे गाँव चिट्ठी गयी है, मदरसा चलो, वहीं डाकखाने में जवाब आ जायगा। मैं बहकावे में आ गया, रोज रोज मदरसा जाने लगा, लेकिन कहीं से कभी कोई जवाब नहीं आया। धीरे-धीरे मैं इस नये स्थान से उसी तरह अभ्यस्त हो गया जैसे ससुराल से नई बहू।

नई बहू क्या सचमुच ससुराल से अभ्यस्त हो ही जाती है? मुझे रामलाल चाचा की एकमात्र सन्तान 'रतिया' (रजनी) की याद आती है। पास के सरैया गाँव में उसका ब्याह हुआ था। छुटपन में वह ऐसी विल्हड़ थी कि रसोईघर में आटा सानते समय उसी में उसकी नाक चू पड़ती थी। सयानी हो जाने पर भी वैसी ही बोदी थी। यौवन का अल्हड़पन उसने जाना नहीं। ससुराल में अपने गाँव लौट जाने के लिए वह दिन-रात रोती-कलपती रहती। लौट कर

वह किसके अञ्चल में आश्रय लेती ? माँ थी नहीं, पिता कन्या को कब तक अपनी छत्रछाया दे सकता था ! जब कभी मैं उसके यहाँ जाता वह मुझे पकड़ कर बलिपशु की तरह आर्त्तनाद कर उठती। जो अभी स्वयं ही अग-जग से अनजान था वह भला उसे क्या आश्वासन दे सकता था !

ससुराल के लौह-पिञ्जर में वह टिक नहीं सकी, वेदना से छटपटा कर असमय ही उसके प्राण पखेरू उड़ गये।

... ...

अमिला जो आजमगढ़ का तनुज होकर भी आज अपने अग्रणी से नागरिक होड़ कर रहा है, उस समय एक सीधा-सादा सुन्दर क़सबा था। छोटा-सा बाजार, अगल-बगल बस्ती, बस्ती के ओर-छोर पर अमराई और तालाब, चारों ओर खेतों का उन्मुक्त पारावार, ऊपर ज्योति छत्र-सा खुला नीला-नीला आकाश !

जीजी का घर प्रकृति के मनोरम स्थल पर था। घर के पीछे पेड़, पेड़ों की ऊँची धरती के नीचे अरण्यानी के हृदय मे उत्सव की तरह फूट निकली नहर-जैसी पतली तलैय्या, उसके उस पार पेड़ों के झुरमुट से झाँकता भूमिहारों का घर। उन दिनों अमिला में उन्हीं का दबदबा था। लोग-बाग उनसे आतङ्कित रहते थे।

बाजार से अलग रहने पर भी वायुमण्डल में क़सबेपन की गन्ध आती थी। नेपथ्य में ओझल वहाँ की चहल-पहल से मन में औपन्यासिक कुतूहल कुहुक उठता था। निपट गँवई गाँव के लड़के के लिए क़सबा एक ऐसा गुलजार संसार था, जहाँ लोगों का जीवन हवा की फुरफुराहट से सरोवर की तरह रल-मल रल-मल करता रहता था।

गाँव की अपेक्षा क़सबे में कैसी विविधता थी ! सभी जाति और सभी पेशों के लोगों का यहाँ निवास था। बाजार के उस पार आखिरी छोर पर कायस्थों का टोला था, वहाँ के मुन्शी लोग अपनी तहज़ीब और पहनावे में शहर के अदब-आदाब के नमूना थे। हिन्दुओं की आबादी में कपड़े में खुशनुमा धारी की तरह गिनती के मुसलमान घरों का भी समावेश हो गया था। दर्जी, चुड़िहारा, पटहारा, रंगरेज, एक्के-वान, ये सब क़सबे की ग्रामीणता में एक सरल नागरिकता का उन्मेष करते थे। रमजान दर्जी और समिया (सामी) रंगरेज मुझे याद हैं। और रमजान का भाई वह मनसबवा (मनसब) तो अब भी मौजूद है, वह पटेबाज़ लड़कपन की तरह ही हाजिर मुस्तैद है।

क़सबे के दार-मदार काँदू वैश्य (कान्यकुब्ज-हलवाई वैश्य ?) थे। जिनकी स्थिति साधारण थी वे बाजार में गट्टा, बताशा, मिठाई बेंचते थे। उनसे ऊँची स्थिति के लोग चीनी का कारखाना चलाते थे। चीनी पैरों से काँड़ कर ही बनाई जाती थी। उसमें कैसी खालिस मिठास रहती थी !

जीजा का घर भरा-पुरा था। खेती थी, जजमानी थी। सबसे अधिक उन्हीं के घर की जजमानी चलती थी। वात्सल्यमूर्त्ति फेंकू बाबा (बहिन के वृद्ध श्वसुर) वैद्यक करते थे, पोथी-पत्रा-पञ्चाङ्ग देखते थे, सत्यनारायण की कथा बाँचते थे, जन्माष्टमी पर धूमधाम से कृष्णोत्सव मनाते थे, बस्ती में दोल की शोभा-यात्रा (जलूस) निकालते थे। अपनी सात्विकता और संवेदनशीलता से वे क़सबे के लोकप्रिय विप्रवर थे, आबाल-वृद्ध-वनिता उनकी प्रतिष्ठा करते थे।

•

प्रकृति की रम्यता, लड़कों की सजीवता और नये स्थान की उत्सुकता ने अमिला में मेरा मन हिला-मिला लिया।

बनारस में मैं दर्जा एक में था, अ.मिला में मेरा नाम दर्जा ब में लिखा गया। पेड़ में रेंड़ की तरह मैं ही दर्जे में आगे हो गया। मास्टर थे एक निहायत ज़ईफ़ मौलवी साहब। पास के भटमिल्ला गाँव से वे अपनी लिल्ली घोड़ी पर चढ़ कर मदरसा आया करते थे। बूढ़े होते हुए भी अपने हाथ में बाँस की छड़ी हमेशा हरी रखते थे। उसी से वे अपनी घोड़ी हाँकते थे, उसी से दर्जे के लड़कों को। मारते समय यह भूल जाते थे कि हम उनकी घोड़ी नहीं, सरस्वती के वाहन हैं। झोंक में जब अपनी छडी सड़सडाने लगते तो रामू के अपराध पर श्यामू को, श्यामू के अपराध पर रामू की मरम्मत कर देते। जब कभी दर्जे में शोर-गुल होने लगता तो सबको एक ही सपाटे में मजा चखाने लगते। उनकी मार से लड़के हवा के सर्राटे से धान के पौधों की तरह झुक-झुक जाते। मौलवी साहब की घोड़ी यदि दुलत्ती झाड़ती थी तो वे भी उससे पीछे कैसे रह सकते थे, छड़ी की झड़ी लगाने में उससे आगे निकल जाते थे।

अपनी घोड़ी पर विराजमान होकर मदरसा आते समय जब वे ताड़ के पेड़ों की ओट में उदित होते हुए दिखाई देते तब लड़के प्रार्थना करते—या अल्लाह, मौलवी साहब की घोड़ी कहीं राह में ही उलट कर ढलमला जाय।

क़सबे के अनेक युवक अपनी बाल्यावस्था में मौलवी साहब के शागिर्द रह चुके थे। जब उन्हें खुश करना चाहते तब पीने के लिए या तो बढ़िया तम्बाकू लाते या अपने कारखाने की चोखी चीनी। कहते हैं, एक बार मनमौजी लड़कों ने चीनी के शरबत में रेंड़ी के बीज पीस कर उन्हें पिला दिया था। तब से चीनी से उन्हें तोबा हो गया।

मरकटहे होते हुए भी मौलवी साहब लड़कों को अच्छे लगते थे। वे

वृद्ध-शिशु थे। पढ़ाते समय जब किसी लड़के के सबक से सन्तुष्ट हो जाते थे तब खुश होकर बोल उठते—चे खुश !

मदरसे की अपेक्षा घर का शासन असह्य था। घर में जीजा का आधिपत्य था। वे तीन भाई थे। जान पड़ता है, अपने पिता के पहलौटे बेटे होने के कारण उनका लड़कपन बड़े लाड़-प्यार में पला था। 'गई न शिशुता की झलक'। उनका नटखटपन अभी तक बना हुआ था, यों कहें, वह उच्छृंखलता की सीमा पार कर गया था। नाम था भृगुनाथ, जिसे वे अपने स्वभाव से सार्थक करते थे। उनके भय से घर की दीवालें तक काँपती रहती थीं। वे परशुराम की तरह महाक्रोधी थे। यौवन की उष्णता थी ही, क्रोधान्ध हो जाने पर उनका मस्तिष्क निदाघ के आतप की तरह प्रखर हो जाता था। जिस पर उनका क्रोध उतरता उसका प्राण सङ्कट में पड़ जाता। अपने वृद्ध पिता और वृद्धा विधवा चाची का भी लिहाज नहीं करते थे, जिन्होंने माँ के अभाव में उन्हें पाला था। सबको झटक कर शिकारी की तरह अपने शिकार पर टूट पड़ते थे।

एक दिन किसी बात पर बिगड़ कर अपने सबसे छोटे भाई (हंसनाथ तिवारी) को लाठी लेकर मारने दौड़े। वे घर के कोने-कोने में भागते-छिपते रहे, यहाँ तक कि चाची की ओट में भी जा रहे, लेकिन उन्हें निस्तार नहीं मिला। किसी तरह घर से बाहर भाग निकले, लेकिन कसबे में जिधर-जिधर वे जाते उधर-उधर ये महाप्रभु रामबाण की तरह लाठी लिये उनका पीछा करते रहे। आखिर उन्हें पकड़ ही लिया, उनकी जो पूजा हुई उसे देखकर दिल दहल उठा। ऐसे ही दुर्द्धर्ष पुरुष के अनुशासन में मेरा अनाथ बचपन आ गया था।

स्वयं तो वे विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु अपने को किसी से किसी बात में घट कर नहीं देखना चाहते थे—चाहे लिखाई-पढ़ाई हो,

चाहे लड़ाई-भिड़ाई, चाहे पहलवानी। उनके लिए असम्भव भी सम्भव हो जाता था। जाड़े के दिनों में सेर-भर नीम का तेल पी जाते थे। कसरती ऐसे थे कि जीजी ने उनका नाम 'मुग्दर' रख दिया था।

बात-बात में उन्हें मुझे मारने-पीटने का जितना ध्यान था उतना पालन-पोषण का नहीं। सच तो यह कि उन्हें अपने सिवा किसी का ध्यान नहीं था। आत्मतृप्ति और आत्मप्रदर्शन ही उनका जीवन था। इसी लिए वे शोख़ और शौक़ीन आदमी थे।

घरवाले उनकी एक ही नेकी मानते थे। जाड़े के दिनों में पड़ोस के हरिकिसुन महाजन के कारख़ाने से पत्थर के कोयले की दहकती अँगीठी ले आते थे। अहा, उसकी आँच में कैसी सोंधी गुलाबी मिठास थी!

अँगीठी के अगल-बगल बैठ जाने पर वे भी सभापति की तरह वहाँ आ विराजते। मदरसे के बाद मेरी घरेलू पाठशाला शुरू हो जाती। वे मुझसे पहाड़ा और व्यौपार गणित पूछते। सकपका कर जब मैं हिसाब सोचने लगता तब मेरे जवाब देने के पहिले ही अपने हाथों का भरपूर प्रहार कर बैठते। यह प्रहार प्रकारान्तर से जीजी के मर्म्म पर आघात पहुँचाता था।

हिसाब में मैं कमजोर था। जोड़, गुणा, बाकी तो लगा लेता था, किन्तु 'भाग' मुझे आता नहीं था। मदरसे के मास्टर भी मुझे मार-मार कर भाग नहीं सिखा पाये। मेरी समझ अच्छी थी; किन्तु मुझे शासन नहीं, सहानुभूति की आवश्यकता थी। रोज-रोज की तौहीनी से ऊब कर छुट्टी के दिन मैं घर पर ही मनोयोगपूर्वक स्वाध्याय करने लगा। स्कूली पुस्तक के सहारे हिन्दी का मैंने स्वतः शुद्ध अभ्यास कर लिया। एक दिन ब्राह्ममुहूर्त्त में चक्रवर्त्ती का अङ्कगणित लेकर भाग का नियम समझने लगा तो अचानक वह भी सरल हो गया। अरे, यह अब तक कैसा तिल का ताड़ बना हुआ था!

एक-दो-तीन, मैं दर्जा-पर-दर्जा चढ़ने लगा। किन्तु घरेलू स्थिति में अन्तर नहीं पड़ा। शासन तो था ही; पोषण का यह हाल था कि दोपहर में नाम-मात्र का दाना मिलता था, रात में भूख से आँख में आँसू आ जाते, सबके खा-लेने पर अन्त में बाबा की थाल में ही कुछ रूखा-सूखा खा लेता। बदन पर पहनने के लिए एक साबूत कपड़ा नहीं, चिथड़े-जैसी धोती में पचासों गाँठ लगा कर पहनता था। किसी निरङ्कुश नृपति के शासन में जनता की जो दीन-हीन हालत होती है वही मेरी भी थी। जीजी भी क्या करती, वह भी तो पराधीन थी।

ऐसी ही स्थिति में एक दिन काशी से घूमते-फिरते पिताजी आ गये। वे गाँव जा रहे थे। जीजी ने उनके चरणों को पकड़ कर बहुत क्रन्दन किया। मुँह से कुछ न कह कर भी आँसुओं में अपना जीवन उँड़ेल दिया। मैं मौन रहा। न रोया, न हँसा। अपनी पहुँच के बाहर का समझ कर यह बालहंस उस परमहंस से हिल नहीं सका। झाड़-झंखाड़ की तरह उनके बढ़े हुए बालों और दाढ़ी को देखकर मुझे घिन्न लगता था, मैं अपनी ही तरह चिकना-मुकना मुख देखना चाहता था। कुएँ पर जब लोटा-डोरी लेकर पानी भर रहा था तब मेरा भार हलका करने के लिए वे भी वहीं बढ़ आये। मैंने अपनी क्षमता दिखलाने के लिए उदासीनता से उन्हें बरज दिया। जिस अंशुधर का मैं अंश था, उसमें समा नहीं सका। पिता-पुत्र का यह कैसा अनमिल मिलन था! दूसरे दिन वे चले गये।

कुछ दिनों बाद देहात में किसी गुसाईं की कुटिया पर उनका देहान्त हो गया। घर के बगल के एक शोहदे ने व्यंग्य से कहा— तुम्हारे बपई चल बसे! मानो मेरे पिता भी मेरी ही तरह नगण्य थे। तब मैं क्या जानता था, मरण एक चिर बिछोह है। मैंने उस दुःसंवाद की गम्भीरता का अनुभव नहीं किया। चुप रह गया।

अभावों में भी शैशव का सरल मन अपने भाव-जगत में विहार करता था जीजा के भय से यद्यपि लड़कों के साथ खेलते समय सहमा-सहमा रहता था तथापि नैसर्गिक इच्छाओं की तरह मैं अपनी क्रीड़ा-प्रियता को भी रोक नहीं पाता था। शहर का चिर-परिचित पतंग ही यहाँ भी हाथ में आ गया। मेरी ही तरह वह भी हल्का-फुल्का रंगीन था। उसी के साथ मैं भी आसमान में उड़ पड़ता।

पतंग को शहर की बोली में मैं 'गुड्डी' कहता। 'गुड्डी' क्या उड्डीन का अपभ्रंश है? लड़कों ने चिढ़ाने के लिए मेरा नाम भी गुड्डी रख दिया। बड़ों ने दुलराने के लिए 'गुडिया' कहना शुरू कर दिया।

मदरसे में लड़के मुझे अपनी पंक्ति में नहीं बैठाना चाहते थे। एक तो मेरे कान बहते रहते, दूसरे मेरे मुख पर ऐसा पूअरपन, ऐसा सूनापन छाया रहता कि वे मेरे साथ बैठने में अपनी हेठी समझते।

लड़कों से बहिष्कृत और घर से तिरस्कृत मेरा मन एकान्तवासी हो गया। मदरसे से लौटने पर घर के बाहर दीवाल से सट कर अपनी किताब में पढ़ी कविताओं को करुण स्वर से गुनगुनाने लगता। उन दिनों तीसरे चौथे दर्जे में 'हिन्दी-प्रवेशिका' पढ़ाई जाती थी। उसमें द्विवेदी-युग के सभी लेखकों और कवियों की कुछ सुन्दर रचनाएँ संगृहीत थीं। मदरसे के हेडमास्टर मुन्शी कन्हैयालालजी उसे पढ़ाते थे। वे यथानाम तथागुण थे, अपनी सज-धज में कृष्ण कन्हैया ही थे, सरस और सुरुचिपूर्ण स्वभाव के बुजुर्ग थे। चुलबुले थे,लड़कों से बड़े गोइयाँ की तरह पेश आते थे। उनके अनुशासन में पिता का शुभचिन्तक हृदय था। कविताओं को वे लय के साथ और लेखों को देश-काल की जानकारी के साथ पढ़ाया करते थे। अपने एकान्त की गुनगुनाहटमें मैं उन्हीं के कण्ठस्वर का अनुसरण करता था।

'हिन्दी-प्रवेशिका' में बाबू मैथिलीशरण गुप्त की भी दो एक कविताएँ थीं। उस अविकच वय में कविताओं को न समझ पाने पर भी मुन्शी जी के सस्वर काव्य-पाठ से ही मेरे मन में काव्य का रसोद्रेक हो गया। गुप्तजी की हरिगीतिका के ओजस्वी प्रवाह में मेरा हृदय भी प्रवाहित हो उठा। छन्द का ज्ञान न होने पर भी मैं तुकबन्दियाँ लिखने लगा। शैशव की तरह ही मेरी वे तुकबन्दियाँ भी कहाँ खो गयीं!

'हिन्दी-प्रवेशिका' के लेख भी उत्साहजनक थे। वे मन को ऊपर उठा देते थे। एक दिन किसी लेख को पढ़ते समय मुन्शी जी के मुँह से दृष्टान्त देने के लिए अकस्मात् गान्धीजी का नाम निकल गया। उन्होंने बतलाया, बड़े होने पर भी गान्धीजी का पहनावा साधारण लोगों की तरह ही कितना सीधा-सादा है! उनकी आडम्बर-शून्य कार्य्य-तत्परता का जो चित्र आँखों में अँक गया, उसे प्रत्यक्ष देखने के लिए मन श्रद्धालु हो उठा। सोचा, कभी काशी जाने पर उन्हें देखूँगा। उस समय सार्वजनिक जगत से सर्वथा अनभिज्ञ था, गाँवों की एक अकिञ्चन अबोध जनता था।

कविताओं के गुनगुनाने से मेरी सुकुमार स्नायुओं में भावना का स्वाभाविक स्फुरण होने लगा। एक-एक शब्द मुझे रहस्यगर्भित जान पडते थे, शैशव के अछूते हृदय का मर्म्मस्पर्श कर लेते थे।

क़सबे की किसी दीवाल पर एक दिन 'डाबर' का विज्ञापन चिपका हुआ मिला। उसका पहिला शब्द था—'प्रिय महाशय!' अरे, यह तो मुझे सम्बोधित कर रहा है। तो क्या मैं महाशय हूँ? क़सबे में चीनी के कारखाने के दो-तीन महाजन ही तो महाशय हैं—महादेव, रामलगन, बेनीमाधव। तब क्या मालूम था कि वे आर्य्यसमाज के सदस्य हैं, इसीलिए महाशय कहलाते हैं। उन महाशयों की अपेक्षा 'महाशय'

शब्द में कुछ और ही उच्चाशय का आभास होता था। गाँव से, शहर से, सबसे ऊपर वह भीतर के किसी चेतन को उद्बुद्ध कर रहा था। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा कि मैं महाशय हूँ। मेरे चारों ओर का वातावरण मेरी सीमा नहीं है।

... ...

मदरसे में पढ़ाई-लिखाई के समय मैं सब लड़कों में अग्रगण्य हो गया। एक दिन मास्टर करिया राय (किसी दूर गाँव के भूमिहार) डिक्टेशन बोल कर लड़कों को लिखा रहे थे। जब सब लड़कों की कापियाँ मेज पर आ गयीं तब जाँच कर उन्होंने मेरी ही कापी को बिलकुल सही पाया। लड़कों से उन्होंने कहा—तुम लोग दोनों कान से ठीक सुनते हो, फिर भी गलत लिखते हो। यह बेचारा दोनों कान से कम सुनता है, लेकिन सब ठीक-ठीक लिखता है।

लड़कों ने सिर नीचा कर लिया।

एक दिन मुन्शी कन्हैयालाल ने लड़कों से पाठ्य-पुस्तक की किसी कहानी का सारांश लिखने के लिए कहा। जाँच कर मुन्शीजी ने सबकी कापियाँ जमीन पर फेंक दीं, उनके हाथ में केवल मेरी ही कापी रह गयी। उसी को दिखा कर उन्होंने लड़कों से कहा—देखो तो इसने कितना बढ़िया लिखा है! तुम लोग तो कहानी की जान ही खा गये। पढ़ते क्या ख़ाक हो!

लड़के आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगे। उनके मनका भाव शायद कुछ इस तरह था—यह बहिरा, यह दरिद्र, कैसे हम लोगों से आगे बढ़ गया!

लड़के मेरी कापी देखने के लिए मेरे पास घिर आये। अपने-अपने बस्तों से काग़ज़, कलम और पेन्सिल का उपहार देने लगे।

उस दिन से मैं मुन्शी जी के वात्सल्य का और लड़कों की आत्मीयता का पात्र बन गया।

मेरे दर्जे में क़सबे के धनी घर का एक सुन्दर लड़का पढ़ता था। उसका घर मेरे घर के बिलकुल बगल मे था। बरहज के गौरा बाजार में उसका चीनी का कारखाना था। बरहज...गौरा बाजार...मैय्या री, तब अनजानी जगहों की कल्पना से भी मन कैसा लहरा उठता था! गाँव की शिशुआँखों पर दूर का जीवन सम्मोहन छा देता था।

उसका नाम था जगदेव। नामकरण करने में घरवालों ने गलती कर दी थी। उसका नाम होना चाहिये था—छविदेव। छुटपन में वह गौरा बाजार में रह चुका था, मैं बनारस में। गाँव में हम दोनों नये थे। इसके सिवा हम लोगों में और कोई बाह्य साम्य नहीं था। वह जितना ही सम्पन्न था, मैं उतना ही निर्धन। वह सुषमा का राजकुमार था, मैं करुणा का कृशकुमार। बचपन में ही उसका विवाह हो गया था, किन्तु था हृदय का कुँआरा। उसकी दो जिह्वा थी—एक बड़ी, एक छोटी। छोटी जिह्वा उँगली में छिगुली की तरह आ जुड़ी थी। ऐसा जान पड़ता था कि लक्ष्मी ने जब अपना वरदान दे दिया तब सरस्वती ने अपने वरदान को ड्योढ़ा कर देने के लिए उसे डेढ़ जीभ दे दी। वह सब तरह से मुझसे ड्योढ़ा था, रूप में, रंग में, वय में, वाणी में। मेरा अभाव ही उसमें भर उठा था। मैं अपने जीवन को उसी की सतह पर देखना चाहता था। उसकी तुलना में अपनी रंकता से मुझे हीनता मालूम पड़ती थी। यों तो वह क़सबे के साधारण वेश में ही असाधारण लगता था, किन्तु विशेष अवसर पर विशेष वेश-भूषा में वह और भी खिल उठता था। एक दन अपनी फटी हालत में मै द्वार पर ठिठका खड़ा था कि देखा मुहल्ले की बारात में शामिल होने के लिए वह कितनी सुन्दर टोपी, कितनी सुन्दर धोती, कितनी सुन्दर

कमीज़ पहने चला जा रहा है। उसका मुकाबला मैं कहाँ तक कर सकता, किन्तु ग्रहण के समय काशी जाने पर मैंने बहिन से कमीज़ बना देने के लिए कहा। कपड़े के अभाव में बहिन ने अपनी धोती का कुछ हिस्सा फाड़ कर कमीज़ तैय्यार कर दी। वह छोटी पड़ गयी, उसे पहन कर मदरसे जाता तो घमंडी लड़के मेरी खिल्ली उड़ाने लगते। किन्तु मेरी छोटी कमीज़ में बहिन की ममता का जो बड़ा वात्सल्य था उसके कारण मैं भी अपने में एक गौरव का अनुभव करने लगा था।

परिस्थितियों में काफी अन्तर होते हुए भी शैशव के सहज स्वभाव के कारण जगदेव से मेरी मित्रता हो गयी। उसके साहचर्य्य में मेरा सूना जीवन सरस हो गया। मैं उसकी छवि को मुग्ध-दृष्टि से देखा करता। मेरे मन में सौन्दर्य्य का भावोन्मेष हो गया।

उन दिनों एक नीरव मधुरता मन में मनसिज की तरह भिंद गयी थी। जब कभी हम दोनों में अनबन हो जाती तब उद्‌गारों का आदान-प्रदान स्नेह के पत्रों से ही होता था। पत्रों को बिना बोले ही हवा में छोड़ देते थे।

कभी-कभी उसका दुर्व्यवहार भी सुखद लगता था। सच तो यह कि सौन्दर्य्य में मैं अपनी भावचेतना का मूर्त्त रूप पाकर अपने-आपको ही प्यार करने लगा था। वह मेरा दर्पण था।

हम लोगों के बीच में एक सखा और आ गया था—राजकिशोर, वह नाटे क़द का छैल-चिकना चपल किशोर बड़ा नटखट था। उसके हलके-फुलके छोटे शरीर के कारण साथियों में उसका नाम छटंकी पड़ गया था।

जगदेव और राजकिशोर सभी साथियों को प्रिय थे। उन वणिक

पुत्रों में पर्य्याप्त लोक-निपुणता थी। कान से कम सुनने के कारण मैं तो अपने ही मनोजगत में संक्षिप्त हो गया था। बाहर की चुहल, चहल-पहल और हलचल में भाग न ले सकने के कारण मैं सांसारिक दृष्टि से नाबालिग़ ही रह गया। किन्तु मन में कुतूहल तो था ही, उसी के कारण कभी-कभी जल की मछली की तरह अपने अतल से बाहर की दुनिया में भी उभक कर कुछ साँस ले लेता था।

... ...

उन दिनों प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था। मदरसे के लड़कों में भी युद्ध का उत्साह जगाया जाता था। क़वायद के समय जब डिप्टी साहब पूछते—तुम लोग लड़ाई में जाओगे, तब सिखाये हुए ढंग से सब लड़के अपना-अपना हाथ उठा देते। हमें क्या मालूम कि लड़ाई क्या है, क्यों होती है, कैसे होती है। जैसे लड़के कभी आपस में लड़-भिड़ जाते हैं वैसे ही यह भी क्या बड़ों का कोई तमाशा है?

हमारे दर्जे में एक रामदेव बरई पढ़ता था। वह साँझ को मदरसे से लौटते समय महाशय जी (महादेव बाबू) की ढेर-सी डाक लाद कर ले जाता था। उसी में कभी-कभी 'लड़ाई का अखबार' भी रहता था। तब हम क्या जानते थे कि अखबार क्या होता है, पत्र-पत्रिका क्या होती है। लड़ाई के अखबार में भौगोलिक नक़शों और राजनीतिक रण-नीतियों को भला उस समय समझ भी कैसे सकते थे। हमारी आँखों में तो केवल उसका रक्तवर्ण आवरण-पृष्ठ ही अञ्जन की तरह अनुरञ्जित हो उठता था।

मदरसे से लौटने पर लड़के अपनी नैश गोष्ठी में तरह-तरह की गप्प मारते। कभी देहाती चुटकुले, कभी मदरसे की बातें, कभी इधर-उधर के किस्से कह कर हँसते-हँसाते। जिस दिन लड़ाई का अखबार

आता उस दिन उनकी नैश गोष्ठी में उसी की चर्चा चल पड़ती। लड़ाई के सम्बन्ध में कुछ न जानने पर भी जो जितनी ही गप्प मार सकता था वह उतना ही होशियार समझा जाता था। लड़ाई क्यों हुई? लड़के कहते—जर्मनी अपने उड़नखटोले पर किसी बादशाह के लड़के को सोते समय उड़ा ले गया, इसीलिए लड़ाई हो रही है। अब यह कौन बतलाये कि उड़नखटोला क्या होता है! हममें से किसी ने कभी कोई हवाई जहाज तो देखा नहीं था।

लड़कों के मन में यह बात बैठ गयी थी कि जर्मनी बड़ा जोरदार है। कहीं अपने उड़नखटोले पर उड़ते-उड़ते वह इस क़सबे में आकर हम लोगों को भी न उड़ा ले जाय। रात के सन्नाटे में भयभीत होकर लड़के आपस में एक दूसरे से सट कर सिमट कर इस तरह बैठ जाते मानों उनका भाग्य नत्थी किया हुआ है।

... ...

मदरसे में पढ़ते समय चारों ओर का दृश्य-जगत कविता और कहानी की तरह सुहावना लगता था। पाँवड़े की तरह फैला हुआ मदरसे का मैदान था, उसी के किनारे किनारी की तरह सड़क थी। सड़क और मैदान का मध्यस्थ एक छोटा-सा शहतूत का पेड़ था। छुट्टी के समय लड़के पेड़ पर चढ़ कर शहतूत खाया करते। किसी सुकुमार काव्य की तरह उसका रस कितना मधुर कोमल था! मदरसे का बगलगीर बरगद का एक विशाल वृक्ष था। लड़के उसकी जटाएँ पकड़ कर झूले की तरह झूलते। जिस दिन पढ़ाई मैदान में होती उस दिन मेला-जैसा लग जाता। सड़क पर जाते हुए राहगीर रुक कर लड़कों को पढ़ते-लिखते देखते, लड़के बीच-बीच में सिर उठा कर विश्राम पाने के लिए कहानी के पात्रों-जैसे उन रंग-बिरंगे राहगीरों को देखते।

पैठ के दिन मदरसे में जल्दी छुट्टी हो जाती। मौलवी साहब से लेकर मुन्शी जी तक बाजार करने चले जाते। देहाती पैठ क़सबे के बाहर की अमराई में लगती थी। उसमें कृषि और वाणिज्य का परिणय होता था। ऊपर वृक्षों पर पक्षी चहचहाते थे, नीचे जमीन पर बाजार कलरव करता था। अहा, देहात की ठेठ पैठ में कितनी स्वाभाविक मोहकता थी! लड़कों का मन भी वहाँ हरा-भरा हो जाता था। वे किसी नूतन आनन्द-लोक में विचरने लगते थे।

... ...

संगी-साथियों और बाग-बाजार में मेरा मन ऊपर-ऊपर ही फूला-फूला रहता था। घर के कठोर शासन के बीच मिला हुआ अवकाश मुझे पेरोल-जैसा जान पड़ता था। रोज-रोज की इस साँसत से मै ऊब गया। एक दिन दोपहर में छुट्टी होने पर बाहर ही बाहर भाग निकला। कहाँ?—

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै
जैसै उड़ि जहाज कौ पंछी फिरि जहाज पै आवै।

मैं अपने गाँव की ओर चल पड़ा। सोचा, वहाँ पहुँच कर बहिन के अञ्चल में ही पुनः आश्रय लूँगा। रास्ता मुझे मालूम था, काशी से बहिन जब कुछ दिनों के लिए वहाँ फिर आई थी तो मैं उससे मिलने गया था।

दो-तीन गाँव आगे जाकर ही जब किसी से मालूम हुआ कि बहिन वहाँ नहीं है तो पीछे लौटने के लिए विवश हो गया। रात में एक ब्राह्मण सद्गृहस्थ के यहाँ विश्राम कर सबेरे फिर क़सबे की ओर प्रस्थान किया। मेरे भाग जाने से घर में तहलका मचा हुआ था। दोपहर में जब घर

पहुँचा तो किसी ने कुछ कहा नहीं, बिना अधिक हलकानी-परेशानी के मुझे पाकर सबने मौन स्वागत किया।

दूसरे दिन पड़ोस के हरि किसुन महाजन ने मज़ाक़ में कहा—'अरे गुडिया, तेरा तो धरम चला गया, तू न जाने किसके हाथ का खाना खा आया।' उनका व्यंग्य कट्टर ब्राह्मणों के चौके-चूल्हे की ओर था। मैं जितना ही सफाई देने लगा वे उतना ही मुझे रिझाने-खिझाने लगे। उनका स्वभाव बड़ा प्रेमल था।

...फिर वही दिनचर्य्या, फिर वही जीवनक्रम। घर में फिर वही कठोर अनुशासन। मैं जो इतने दिनों तक, शायद सन् १९१५ से १९१८ तक, युद्धकाल-पर्य्यन्त अमिला में अवरुद्ध स्रोत की तरह रह गया, इसका कारण फेंकू बाबा का वात्सल्य था। याद आती हैं वे विधवा वृद्धा चाची भी जो वार्द्धक्य में भी कितनी स्वस्थ, प्रसन्न और कर्म्मनिष्ठ थीं। और सब काम तो वे अकेले ही निपटा लेतीं लेकिन नीम की निबौड़ी बीनना उनसे सँपरता नहीं था। उन्हें मेरी सहायता की जरूरत बनी रहती। चलो, इसी बहाने घर के कारावद्ध जीवन से प्रकृति के आँगन में मुझे खुली साँस लेने का कुछ अवसर तो मिल जाता था। चाची के साथ मैं उन्हीं के एक नन्हा तारा-जैसा भला लगता था।

घरेलू शासन से छुटकारा पाने के लिए एक दिन मैं बीमार होने का बहाना कर खाट पर पड़ गया। यह क्या! मैं सचमुच बीमार पड़ गया। अभाव और अनवरत ताड़न-उत्पीड़न से मेरा तन-मन रुग्ण हो गया। उन दिनों क़सबे में प्लेग फैला हुआ था। मेरी बाईं काँख में गिल्टी निकल आयी। मस्तिष्क से झिरझिर कर रक्त बहने लगा। मेरी घ्राण-शक्ति मन्द हो गयी। बाईं आँख में भीतर ही भीतर घाव हो गया।

मुझमें पर्य्याप्त मनोबल था, अतएव, दो-तीन महीने की लम्बी बीमारी के बाद जीता-जागता उठ बैठा।

मेरी अस्वस्थता के दिनो मे ही मदरसे मे इम्तहान हो गया। साथ के लडके तो दर्जा चार पास कर फुर्र हो गये, केवल मै ही पतझड के जीर्ण-शीर्ण पत्ते की तरह अपने जीवन का मूर्त्तिमान निष्कर्ष बन कर मदरसे में अपनी पुरानी जगह पर शेष रह गया। क्या फिसड्डी बन कर रहना ही मेरे भाग्य में था!......

विधाता को मुझ पर दया आ गयी। अचानक एक दिन कोई ग्रामपथिक मुझे खोजते हुए मदरसे मे आ पहुँचा। अरे, उस देवदूत ने यह कैसा सुसम्वाद दिया—बाहर कुएँ की जगत पर बडी बहिन मेरी प्रतीक्षा कर रही है!

बहिन... ..एकाएक यहाँ कैसे! जान पडता है, मेरी रुग्णता का सामाचार उसे मिल चुका था। काशी से गाँव और गाँव से फिर काशी लौटती हुई वह मुझे अपने साथ ले जाने के लिए ही यहाँ आ पहुँची थी। जब बहिन के सामने मै जा उपस्थित हुआ तब अपने प्यार की इस धरोहर को जुगो कर वह बाहर ही बाहर चल पडी।

बिदा, बिदा, सबसे दूर से ही बिदा! इतने दिनो के ओ हर्ष-विषाद, बिदा!!

... ...

उस दिन सोनाडीह गाँव में हम लोगों ने रैनबसेरा किया। साँझ को जीजा आ पहुँचे। बोले—इसे साथ मत ले जाओ, पढना-लिखना छोड कर निकम्मा हो जायगा।

मैं भाग कर घर के भीतर सात तह के अन्दर जा छिपा। बहिन ने आश्वासन दिया—डरो मत, मैं तुम्हें काशी ले चलूँगी।

बाहर आने पर जीजा ने मुझे अपना उपहार दिया— बढ़िया धोती, बढ़िया कुरता, बढ़िया टोपी, बढ़िया गुलाबी दुपट्टा। क्या सचमुच वे दिल के रईस थे!

... ...

शुक्ल पक्ष की उँजेरी रात थी। घर, आँगन, वन, उपवन, चारों ओर प्रकृति के प्रसन्न आशीर्वाद की तरह शरद की शुभ्र चाँदनी छिटकी हुई थी। उसके अमृत-स्पर्श से मेरा तन-मन नवोल्लसित हो उठा।

काशी,
२६।५।५२

जीवन के तट पर

काशी,
१६।६।५२

सम्भवतः सन् १६१६ के जाड़ों में मैं देहात से खादी के कच्चे धागे की तरह अपना कृश शरीर लेकर काशी आया।

बहिन ने घर बदल दिया था। माँ के देहावसान के बाद दुक्खू चाचा के घर में उसे कष्ट होने लगा था। जब तक माँ थीं तब तक वे ही रक्षा-पंक्ति की तरह आगे रह कर संसार की कटुताओं से बहिन की सुरक्षा करती रहीं, उनके हटते ही उसका जीवन आक्रान्त हो गया। दुक्खू चाचा की कर्कशा भौजाई अपने दुर्व्यवहार से दिन-रात मर्म्माहत करने लगी। यह तो मैं देख गया था कि किस तरह वह अपने लड़कों को सिखा कर बहिन के पैसे चोरी करा लेती, ईंधन-पानी-अन्न सब कुछ गायब करा देती! उलाहना देने और फरियाद करने पर 'उलटे चोर कोतवाल को डाँटे' की कहावत चरितार्थ करती। सच तो यह कि ऐसे घर में दुक्खू चाचा की दुहिता 'पियारी' का जीवन भी सुरक्षित नहीं था। 'जिमि दसनन महँ जीभ बिचारी' की तरह उनकी स्थिति थी।

बहिन पड़ोस में ही वृद्ध ब्राह्मण पुरुषोत्तम बाबा के घर में रहने लगी थी। बाबा तो थे नहीं, उनका घर एक माँझी-परिवार ने खरीद

लिया था। यह परिवार सरल और सुहृद था, उसमें ठेठ जनता का घरेलू सौहार्द था। आसन बुन कर और टिकुली बना कर जीवन-निर्वाह करता था।

उन दिनों चार आना-आठ आना महीने के किराये पर कमरा मिल जाता था। वस्तुतः युग इतना व्यवसायी नहीं हो गया था कि किराये पर कमरा लेने की जरूरत पड़ती, जिनके घरों में जगह होती वहाँ यों ही रहने के लिए स्थान मिल जाता था। क्या पेड़ों पर घोंसला बनाने के लिए पंछियों को किराया देना पडता है! किन्तु बहिन ने उपकार से भाराक्रान्त न होने के लिए नाममात्र के किराये पर एक कमरा ले लिया था।

बहिन के इस नये आवास में आकर देखा, वह एक छोटी-सी कच्ची कोठरी है। उस सीली कुटिया में दीवाल से सटी सीधी रेखा में बहिन का गोंटा बुनने का ताना-बाना था, एक कोने में चौका-चूल्हा, दूसरे कोने में मेरा अध्ययन-कक्ष। अपनी शुचिता और रुचिरता से उसने छोटे-से कमरे को दिव्य धाम बना दिया था। मैंने सोचा, अन्न का भण्डार तो कहीं दिखाई नहीं देता, बहिन मुझे खिलायेगी क्या! लेकिन जैसे छोटे-से बटुआ में वह कलावन्ती अपनी सिलाई-पुराई का सामान रखती थी, वैसे ही एक छोटी-सी पोटली में कुछ अन्न। उस अन्नपूर्णा के हाथ का भोजन किसी सुरुचिपूर्ण काव्य की तरह सुस्वादु लगता था।

गाँव से फिर नगर में आने पर मेरा मन नहीं लगता था। अमिला में जिस तरह अपने को एकाकी पाकर रोने लगा, उसी तरह यहाँ भी। अमिला में गाँव के लिए रोता था, बनारस में अमिला के लिए। अरे, वहाँ क्या था! वहाँ था कैशोर्य्य के नयन-कोरकों का सद्यःप्रस्फुटन। उसी की कमनीय सुषमा से वहाँ का दुख-दैन्य भी सुखद सुन्दर हो गया था।

स्वप्नों का शिशु आँखों के आँजन की तरह सृष्टि में अपनी ही भावना को आँज कर उसे अपने ही जैसा सुरम्य बना लेता है। वस्तु-जगत का सम-विषम धरातल उसकी अन्तर्दृष्टि से स्निग्ध होकर चन्द्र-लोक की तरह अनिर्वचनीय जान पड़ने लगता है। उसकी अनुभूति में संसार का 'सु-कु' खो जाता है, सारा वातावरण चाँदनी में इकसार हो जाता है। संसार के सुख-दुख से वह भी हर्षित-विमर्षित होता है, किन्तु सब कुछ विस्मृत कर अपनी ही सृष्टि में लौट जाता है।...

अमिला से बनारस आने पर मैं परदेश का अनुभव करने लगा। मुझे पीछे के संगी-साथी याद आते। खेत, तालाब, अमराई, मदरसा, सब मेरे मन को अपने पास खींच ले जाते। गंगा-तट पर बैठ कर मैं वहाँ की स्मृतियों को सँजोने लगता। अरे, कल तक कहाँ था, आज कहाँ हूँ!

जीवन एक अभ्यास है। बालक एक खिलौने के छूट जाने पर दूसरे खिलौने के लिए, दूसरे खिलौने के छूट जाने पर तीसरे खिलौने के लिए रोता रहता है। और फिर जो मिल जाता है उसी में मन रमा लेता है। ऐसा ही तो यहाँ भी हुआ।

मुझे रोते देख कर मेरा मन लगाने के लिए दुक्खी भैय्या द्रवित हो उठे। जिस घर में मैं रहता था उसी में दुक्खी भैय्या भी अपनी माता और दुलहिन के साथ रहते थे। वे मल्लाह थे, लेकिन काम संगतराशी का करते थे। उनकी दुलहिन, बहिन का बहुत आदर करती थी; उसी से उसने भी गोंटा बुनना सीख लिया था।

मैं दिन भर अपने सूनेपन में डोला करता! साँझ को अपनी मजदूरी से लौट कर दुक्खी भैय्या अपने साथ घुमाने ले जाते। उनके

साथ जनसाधारण का समाज देखने को मिलता। उस समाज में कैसी अकृत्रिम आत्मीयता थी !

दुक्खी भैय्या मुझे साथ लेकर प्रायः गंगाजी चले जाते। वहाँ वे पहरों नहाते रहते। रात्रि की नीरवता में अपने अनुभव सुनाया करते। एक दिन मैंने कहा—भैय्या, मछली खाना छोड़ दो। वे बोले—'कहत कबीर सुनो भाई साधो ! जीवहिं जीव अधारा।'—क्या यही चिरन्तन सत्य है ?

मुझे मेरे एक भैय्या और मिल गये। बहिन की चिरसङ्गिनी सहेली पियारी बहिन थीं, मुझसे उम्र में बड़े उनके एकमात्र छोटे भाई देवनाथ मेरे बालसखा हो गये। बड़ी बहिन की तरह मैंने एक बड़ा भाई पा लिया। देवनाथ भैय्या संस्कृत पढ़ते थे। बड़े मनोविनोदी थे। बातचीत में खूब हँसाया करते। नैपाली कोठी की रखवाली के लिए नौकरों के क्वार्टर में एक दुबले-पतले लम्बे लालाजी रहते थे, शहर की किसी कोठी में मुनीमी करते थे। सबके मनोविनोद के पात्र थे। कान से कम सुनते थे। वे वयोवृद्ध ऐसे भोले थे कि बातचीत न सुन पाने पर भी बच्चों की तरह बड़ी सरल हँसी हँस दिया करते।

बरगद के चिरपरिचित विशाल वृक्ष की सघन छत्रछाया के नीचे मण्डलाकार बसा मुहल्ला एक संयुक्त परिवार-जैसा लगता था। देवनाथ भैय्या के घर के सामने के चबूतरे पर मेला लगा रहता। वहीं अतिथियों का आगमन होता, वहीं पण्डितों का समाज जुड़ता, वहीं अवकाश के समय लालाजी के साथ बच्चों का हास-परिहास होता।

धीरे-धीरे समवयस्क साथियों से भी हेल-मेल हो गया। उनके साथ खेलते-तैरते मेरा मन लग गया।

बचपन के छूटे हुए भदैनी के प्राइमरी स्कूल में मैंने फिर प्रवेश

किया। चौथे दर्जे में नाम लिखाया। देहाती मदरसे की पढ़ाई ने मुझमें आत्मविश्वास उत्पन्न कर दिया था, वही पाठ्यक्रम यहाँ भी पाकर पहिले ही दिन से मन उत्साहित हो उठा।

स्कूल के हेडमास्टर बाबू भगवान सिंह पढ़ाने-लिखाने में ढिल-मिल थे। प्रौढ़ावस्था में ही वे अपना पढ़ा-लिखा भूल चुके थे। मैंने स्वाध्याय का सहारा लिया। बाजार से 'हिन्दी-प्रवेशिका' की कुञ्जी लेकर पढ़ने लगा। उसी से मुझे शब्दबोध हुआ, उसीसे मेरा भाषा-संस्कार बना। वह बुनियादी संस्कार द्विवेदी-युग का था।

गणित में मैं देहाती मदरसे से ही निपुण था। कठिनाई के समय यदा-कदा मास्टर साहब से कुछ पूछने पर वे बतला नहीं पाते थे। ट्रेनिंग में पढ़ते समय उन्होंने पूरे चक्रवर्ती-अङ्कगणित के प्रश्नों को एक मोटी कापी में हल कर डाला था। वह कापी एक तरह से गणित की साफ-सुथरी कुञ्जी थी, सुन्दर लिखावट में हस्त-लिखित पुस्तक थी। किसी सवाल के पूछने पर मास्टर साहब उसी को देख लेने की सलाह देते। मैंने उसी के सहारे गणित का अभ्यास बढ़ा लिया।

भूगोल मैं सीख नहीं सका। इतना रोचक विषय उस समय कोई ठीक से पढ़ाने वाला नहीं मिला। मेरे दर्जे में एक मद्रासी छात्र था रामचन्द्रन्। विन्दु के सामने सिन्धु की तरह उसका भौगोलिक ज्ञान अपरम्पार था। हिन्दी और गणित के घण्टे में लड़कों को मास्टर साहब मेरी ओर, भूगोल के घण्टे में उसकी ओर प्रेरित कर देते थे। लेकिन उसकी जबान इतनी द्रुतगति से दौड़ती थी कि हतबुद्धि और चकित रह जाना पड़ता, हाथ में कुछ लगता नहीं था। किसी तरह किताब के सहारे मैंने कुछ भौगोलिक परिभाषाएँ याद कर लीं: किन्तु जिसे

कभी देखा नहीं, जाना नहीं, उस संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) और भारतवर्ष का नक़शा बिना चित्रकारी या ड्राइंग सीखे ही ठीक-ठीक बना लेना मेरे लिए सम्भव नही था। मैंने नकशे की ओर ध्यान से देखा तो संयुक्त प्रान्त का चित्र लँगड़े शेर-जैसा जान पड़ा, जिसकी पीठ पर पर्वत प्रदेश अयाल की तरह छितराया हुआ था। भारतवर्ष का चित्र तिकोने पतंग-जैसा जान पड़ता। जिसका आकाश हिमालय था, पुछल्ला लंका था, केहुनी कच्छ की खाडी थी। बरमा उसका एक फैला हुआ हाथ था।

पढ़ने-लिखने में किसी से पीछे न रहने पर भी मेरी सांसारिक स्थिति इतनी नगण्य थी कि अल्लू-मल्लू भी मुझपर अपना रोब जमाते थे, पिद्दी लड़के भी शेखी बघारते थे। पढ़ने में कमजोर किन्तु मेरी अपेक्षा घर-द्वार से शहजोर लड़के मुझी पर अपने अहङ्कार का प्रहार कर सन्तोष-लाभ करते थे। मास्टर साहब से दण्डित होने हर हाथ जोड़ कर क्षमा माँग लेते थे।

देहाती मदरसे से मैंने उत्तराधिकार में पाया था—काव्य का प्रेम और आदर्श का आभास। स्कूल में काव्य के लिए कोई रसज्ञ गुरु नही मिला, किन्तु आदर्श के लिए गान्धीजी का नाम देहाती मदरसे में मुन्शीजी से सुन रखा था। नगर में आने पर उनके दर्शनों के लिए लालायित रहने लगा। इनसे-उनसे सबसे उनके बारे में पूछता रहता।

ऐसे ही दिनों में किसी डाकिया के हाथ में मैंने पहिले-पहिल 'सरस्वती' देखी। मुखपृष्ठ पर 'सरस्वती' के दिव्य चित्र का शुभ दर्शन हुआ। भीतर प्रथम पृष्ठ पर बाबू मैथिलीशरण गुप्त की एक कविता छपी थी—'प्रणाम'—

भव-भूतल को भेद गगन में उठने वाले शाल, प्रणाम !
छाया देकर पथिकों का श्रम हरनेवाले, तुम्हें प्रणाम !!

कविता के शब्दों से रस मिला, किन्तु उसकी भावाभिव्यक्ति को समझने के लिए अभी मेरा काव्य-बोध पर्याप्त नहीं था।

मुहल्ले के श्वेताम्बर जैन मन्दिर के अतिथि-गृह में बम्बई से एक स्नेह-वत्सला माताजी अपने विद्या-वयस्क सुपुत्र के साथ आकर ठहरा करती थीं। वे शायद साहित्य-प्रेमी भी थे। एक दिन मन्दिर के बरामदे में 'सरस्वती' की पुरानी कापियों को धूप दिखा रहे थे। संयोग से मै भी वहाँ पहुँच गया। 'सरस्वती' की पाठ्यसामग्रियो के अनुकूल मेरी मानसिक सतह नही बनी थी। मै उसमे प्रकाशित चित्रों को ही चाव से देखने लगा। अचानक एक चित्र पर दृष्टि रुक गयी। वह चित्र था मोहनदास करमचन्द गान्धी बैरिस्टर का। क्या यही गान्धीजी है! उनका जो चित्र मेरे मनमें बसा हुआ था उससे यह सर्वथा भिन्न था।

एक दिन अचानक यह सुसम्वाद मिला कि गान्धीजी आ रहे हैं। कल टाउनहाल में सभा होगी, व्याख्यान होगा। टाउनहाल क्या, सभा क्या, व्याख्यान क्या! अरे, ठेठ गँवई-गाँव का बालक तब इन बातो को क्या जानता था! सोचा, स्कूल की तरह टाउनहाल में भी जाकर सबसे आगे बैठ जाऊँगा, जीभर कर गान्धीजी को देखूँगा और ध्यान से उनका बोलना सुनूँगा। किन्तु.........

दूसरे दिन साँझ को जब टाउनहाल पहुँचा तब वहाँ एक्का, ताँगा, बग्घी, मोटर की भरमार थी। आगे एक बड़े शामियाने के नीचे हजारों कुर्सियों पर नगर के लोग बैठे हुए थे। कुर्सी पर तो मास्टर-साहब ही बैठते हैं, तो क्या वे लोग भी उन्ही की तरह बड़े थे! कहीं खड़े होने के लिए भी जगह नहीं थी। उस भीड में मै गान्धीजी को देखने का प्रयत्न करने लगा, लेकिन वे तो जैसे ईद के चाँद हो गये। मैं उनकी झलक भी नहीं पा सका।

एक दिन न जाने कैसे वाचनालय में जा पहुँचा। वहाँ मेज पर एक अखबार मिला—'हिन्दी-केसरी।' उसमें गान्धीजी का व्याख्यान छपा था। पढ़ने पर मालूम हुआ कि उन्होंने उस दिन टाउनहाल में हिन्दू-मुस्लिम-एकता का उपदेश दिया था।

मेरे दर्जे में मुग़ल घराने के कुछ लड़के पढ़ते थे। उनके घर वालों को जीवन-निर्वाह के लिए अंग्रेजी सरकार से थोड़ा-बहुत वज़ीफ़ा मिलता था। मैंने उन्हीं लड़कों के सहयोग से छुट्टी के दिन स्कूल के हाल में मेज-कुर्सी सजा कर सभा का स्वाँग रचा। शौकत तो सचमुच शौकत अली बन गया, किन्तु सलीम मेरी ही तरह दुबला-पतला था, वह किसी मुस्लिम नेता में फिट नहीं हो सका।

देहात की अपेक्षा नगर में विविधता होते हुए भी अभी मेरे लिए उसका क्षेत्र सङ्कुचित ही था। मन में पग-पग पर जिज्ञासा उठती थी किन्तु समाधान नहीं मिलता था। दूकानों के साइनबोर्ड और दीवालों पर चिपके पोस्टर कुतूहल जगाते थे, क्या उन्हीं में नगर की कुञ्जी छिपी थी। स्कूल के सामने सड़क पर रोज थियेटर की बग्गी दौड़ती रहती। छत पर बाजा बजता, भीतर बैठा एक आदमी इश्तहार बाँटता जाता। इश्तहार लेने के लिए लड़के भी बग्गी के साथ-साथ दौड़ पड़ते। थियेटर तो क्या देख सकते, इश्तहार पाकर ही खुश हो जाते। थियेटर को कहते 'ठेठर'। ठेठर क्या? वह भी कोई जादूघर होगा। मेरे चारों ओर का नागरिक वातावरण भी उसी थियेटर की तरह अज्ञात था।

नगर की अपेक्षा गङ्गा-तट से मेरा बाल्य-सम्बन्ध था। गङ्गा के किनारे-किनारे मैं बड़ी दूर-दूर तक घूमने चला जाता। यह घाट, वह घाट, कितने मन्दिर, कितने मकान, कैसे-कैसे लोग-बाग, भक्तों का स्नान, तैराकों का क्रीड़ा-कल्लोल, नावों का आवागमन, मन्द-मन्द हिलकोरों पर उनका ठुमकना-थिरकना!

अपना घाट तो इमिलिया घाट (आज का आनन्दमयी घाट) था। वहीं पर हम लड़के भी गङ्गा की गोद में सन्तरण करते-करते संसार को भूल जाया करते थे।

मेले के दिन स्कूल के मैदान में काठ के घोड़ों और चर्खी के झूलों पर मन हवा में उड़ने लगता था।

रविवार के दिन प्रायः विश्वविद्यालय चला जाता। मेरे साथ मेरा सहपाठी लक्ष्मीनारायण रहता। उन दिनों विश्वविद्यालय की इमारतों का बनना शुरू हुआ था। स्नायु-जाल की तरह फैली लोहे की सँकरी पटरियों पर सामान ढोनेवाली गाड़ियाँ दौड़ती रहतीं। छुट्टी के दिन मानो हम लड़कों के लिए ही खाली रहतीं। उन्हीं में से किसी एक को अपने हाथों से ढकेल कर हम दोनों पीछे खड़े हो जाते। वह सर-सर सर-सर खड़-खड़-खड़-खड़ न जाने कितने खाई-खन्दकों को पार करती निर्जन वन-पथ पर बढ़ी चली जाती।

जान पड़ता है, बच्चों को गति और लय से विशेष अनुराग होता है; इसी लिए तैरने, झूलने, जोर से सीटी और पिपिहरी बजाने, उस दौड़ती गाड़ी पर वायु-विहार करने में काव्य की तरह ही आनन्द मिलता था।

गोधूलि के बाद जैन-मन्दिर की गली और बारहदरी में बालकों का नैश-समाज जुड़ता। मुहल्ले के तरुण, लड़कों के अगुवा बन जाते। पहेली बूझने के लिए लड़कों का समूह दो दलों में बँट जाता।

एक दल का अगुआ कहता—मोरे मोरे गोइयाँ !

दूसरे दल के लडके कहते—काऽरे गोसइयाँ !

जब कोई लड़का पहेली बूझ देता तब गोसइयाँ कहता—चढ़ मार चड्ढी !—सवारी पर चढ़ बैठ।

जीते हुए दल के लड़के दूसरे दल के लड़कों की पीठ पर सवार होकर गली में दौड़ाते। भार न सँभाल सकने के कारण जब कोई लड़का धीमा पड़ जाता तब विजयी दल का लड़का सरपट दौड़ाने के लिए एँड़ लगाता। पराजित लड़का खीझ कर कहता—ए, इतने जोर से मत हाँको, कभी तुम भी तो हारोगे!

बारहदरी में गंगा की सीढ़ियों पर बैठ कर लड़के तरुणों के मुँह से कहानियाँ सुनते। उन कहानियों में कैसी रोचकता रहती, कैसी अटूट धारा बहती, पात्रों की आकृति-प्रकृति पहिचानी-सी जान पड़ती।

गङ्गा-तट पर बालकों का वह नैश-समारोह क्या था? रवि ठाकुर की कविता याद आती है—

जगती-पारावार-किनारे बालक करते।

मेला शून्य सीप से खेला!

ऐसे ही क्रीड़ा-कलित दिनों में एक दिन यह दुःसम्वाद आया कि अमिला की जीजी का देहान्त हो गया! स्कूल से आने पर देखा, बहिन रो रही है। मैं रो नहीं सका। जो अभी जीवन में प्रवेश कर रहा था उसकी उम्र मृत्यु की गम्भीरता का अनुभव करने योग्य नहीं थी। माँ गयीं, दुधमुँहे भाई गये, पिता गये, जीजी गयीं। सबके वियोग का व्यथा-भार विधाता ने क्या अकेले बहिन के ही भाग्य में लिख दिया था! आह, वह बालविधवा तो जन्म की ही दुखिया थी! युग युग से मानों वही कहती आ रही थी—'बिरह सहन को हम सिरजी हैं पाहन हृदय हमार।'

दुख को स्वयं शिरोधार्य्य कर बहिन ने मुझे सुख ही सुख दिया। मेरे जीवन की बाल-तरङ्गों को भङ्ग होने नहीं दिया।

देहात से नगर में आकर मैं पूर्ण स्वतन्त्र हो गया था। बहिन को

यही सन्तोष था कि मेरा पढ़ना-लिखना ठीक चल रहा है। एक दिन कापी और किताब के लिए बहिन से आठ आना माँगा। बहिन ने तुरत दे दिया। गाँव की गरीबी के बाद नगर मे इतना पैसा पाकर मै अमीर हो गया। शहर जाकर न मैने किताब ली, न कापी ली; सब पैसा मिठाई की दूकानो पर खर्च कर आया। घर लौटने पर बहिन ने कुछ कहा नही। मेरा हौसला बढ गया, मै मुक्तहस्त हो गया।

जब कभी बहिन मुझे नया कपड़ा पहनाती तब पियारी बहिन को प्रणाम करने के लिए कहती। सचमुच वही तो बहिन की भी बहिन थीं। यदि वे न होती तो माँ के बाद बहिन को कौन प्रबोधन देता। उनसे भी पहिले यदि दुक्खू चाचा का आश्रय न मिलता तो पिता जी का भी कहाँ ठिकाना लगता !

पारिवारिक बन्धनों के कारण पियारी बहिन तो कहीं आ-जा नही सकती थीं, किन्तु बहिन अवकाश मिलते ही उनके पास जा पहुँचती थी। दूरी ही कितनी थी, पडोस में एक दूसरे से लगे हुए ही तो घर थे। और हृदय तो इतनी दूरी भी स्वीकार नही करता। वह तो सासारिक सीमाओ से ऊपर किसी अन्य अभिन्न लोक मे निवास करता है।

धन्यभाग्य—काशी की तीर्थभूमि में देवता के वरदान की तरह मुझे इन दोनों बहिनों का प्यार मिला, दुलार मिला।

काशी,
२४।६।५२

परिपाटी का परित्याग

काशी,

२५।६।५२

उस वर्ष म्युनिस्पल बोर्ड के सभी प्राइमरी स्कूलों के छात्रों में मेरा ही परीक्षा-फल सबसे आगे रहा। वार्षिक परीक्षा के बाद छात्रवृत्ति की प्रतियोगिता के लिए विशेष परीक्षा देनी पड़ती थी। परीक्षा-केन्द्र कबीरचौरा का मिडिल स्कूल था। वार्षिक परीक्षा में अच्छे नम्बरों से उत्तीर्ण छात्रों को ही छात्र-वृत्ति की परीक्षा में सम्मिलित किया जाता था। मुझे भी वह परीक्षा देनी पड़ी। परीक्षा मेरे मनचाहे विषयों (हिन्दी और गणित) में ही हुई। उस परीक्षा में भी मैं ही सर्वश्रेष्ठ रहा।

गणित में पाँच प्रश्न थे। एकमात्र मैंने ही पाँचों प्रश्नों के उत्तर ठीक-ठीक लिखे थे। हेडमास्टर साहब से यह शुभ समाचार मुझे मिल चुका था। हिन्दी के परीक्षा के दिन जब बोर्ड के स्कूलों के शिक्षा-निरीक्षक ने यह जानना चाहा कि किस छात्र ने कितने प्रश्नों को ठीक ठीक हल किया है तो तीन से आगे का कोई उत्तीर्ण छात्र खड़ा नहीं हो सका। चार के बाद पाँचों प्रश्नों का उत्तरदाता पाने की आशा छोड़ कर निरीक्षक ने निराशा से मुस्करा दिया। उस समय सभी स्कूलों के मुख्य अध्यापक उपस्थित थे, उन्हीं लोगों ने कापियों

की जाँच की थी। सबकी दृष्टि मेरी ओर उन्मुख हो गयी। मेरी ओर इशारा कर हेडमास्टर साहब ने निरीक्षक से कहा—हुज़ूर, इस लड़के ने पाँचों सवाल ठीक-ठीक हल किये हैं!

मुझसे जब खड़े होने के लिए कहा गया तो मै लज्जा से झेंप गया। बैठा ही रह गया, टॉवर की तरह खड़ा होकर अपनी कीर्त्ति का प्रदर्शन नहीं कर सका। मेरा स्वभाव देहात से ही लज्जालु और झेंपू था। सबके अहङ्कार का भार वहन करते-करते मैं अहं-शून्य हो गया था।

... हेडमास्टर साहब के अध्यापन-कार्य्य की प्रशंसा होने लगी। पता नहीं, उनकी वेतन-वृद्धि हुई या नहीं; लेकिन बोर्ड के नियमानुसार अन्य उत्तीर्ण छात्रों के साथ-साथ मुझे भी दो रुपये मासिक छात्र-वृत्ति मिलने लगी।

उन दिनों शहर में कुल एक ही मिडिल स्कूल था। भदैनी के प्राइमरी स्कूल की सीमा पार कर सन्' २० के ग्रीष्मावकाश के बाद मैने कबीर चौरा के मिडिल स्कूल में पाँचवें दर्जे में प्रवेश किया, टॅब से तालाब में आ गया।

कबीर चौरा का मिडिल स्कूल ऊँची कुर्सी की ज़मीन पर बना हुआ है, इसी लिए सड़क पर होकर भी उससे द्रष्टा की तरह तटस्थ है। वह अग-जग से अलग एक स्वतन्त्र लोक-जैसा जान पड़ता है। ईसाइयों की छावनी की तरह खपरैलों से छाये हुए उस अर्द्धग्रामीण भवन में घरेलू स्वाभाविकता है। भवन के सामने खुला मैदान है जिस पर इधर-उधर सुशोभित पेड़ वातावरण को प्राकृतिक बना देते हैं।

प्राइमरी स्कूलों की अपेक्षा मिडिल स्कूल में छात्रों की संख्या अधिक हो जाने के कारण हाई स्कूलों की तरह यहाँ भी प्रत्येक कक्षा के लिए

अनेक अध्यापक थे। अब भी शायद वही अध्यापन-क्रम होगा। मुझे सभी अध्यापकों के नाम याद नहीं, लेकिन एक अध्यापक का नाम भूला नहीं हूँ, वे थे मास्टर छेदी लाल। जाति के ठठेरा या कसेरा थे। शरीर की तरह ही बुद्धि से भी कसे हुए आदमी थे। मेरी सफलता से अवगत थे, इसलिए मुझे विशेष रूप से उन्होंने अपनी कक्षा में ले लिया था।

मिडिल स्कूल में पाँचवें दर्जे से हिन्दी के साथ उर्दू भी पढ़नी पड़ती थी। उर्दू में मैं उन्नति नहीं कर सका, शायद वह मेरी रुचि और संस्कृति के प्रतिकूल थी। जो थोड़ी-बहुत उर्दू जानता था, वह भी भूल गया।

इतिहास मेरे लिए एक नया विषय था। वह कहानियों की तरह ही रोचक था। बिना पढ़ाये ही उसमें मेरा मन खूब लगता था। उसे पढ़ते-पढ़ते मेरा मन कल्पनाशील हो उठता था, अतीत में विचरने लगता था। ऐसी काव्यमयी उद्भावनाएँ कर बैठता था कि मास्टर साहब का शुष्क हृदय भी खिल पड़ता था।

भदैनी से कबीरचौरा कितनी दूर है! अपने मुहल्ले के छोटे दायरे से मुझे एक बड़े दायरे का पथिक बन जाना पड़ा। अब तक जो नगर मेरे लिए गङ्गा के किनारों तक ही सीमित था वह शहर की हलचलों तक फैल गया। स्कूल से लौटते समय मैं बाजार की चहल-पहल देखता जाता। शायद मन के किसी अज्ञात कोने में ओझल काशी के धार्म्मिक संस्कार के कारण बुलानाला पर आर्य्यसमाज-भवन के सामने कुछ देर रुक जाता। उसी के बगल में ईसाइयों का प्रचार-गृह था। किन्तु दोनों ही साम्प्रदायिक संस्थाएँ मेरे मन में कुतूहल से अधिक स्थान नहीं बना सकीं।

मास्टर छेदीलाल आर्य्यसमाजी थे। वे प्रति रविवार को वहाँ जाया करते थे। एक दिन आर्य्यसमाज का प्रसङ्ग चलने पर उन्होंने मुझे भी रविवार को वहाँ आने के लिए कहा। अवकाश का मनोविनोद छोड़ कर मुझे वहाँ जाने का उत्साह नहीं हुआ।

सार्वजनिक जगत अभी मेरा वातावरण नहीं बन सका था। कभी-कभी पं० यज्ञनारायण उपाध्याय के यहाँ 'हिन्दी-वङ्गवासी' पढ़ने को मिल जाता। पृथ्वी की तरह ही कितना लम्बा-चौड़ा उसका आकार-प्रकार था। उसी के भीतर से दुनिया की ओर झाँक लेता था।......

मास्टर छेदीलाल ने भूगोल की एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी थी। उस पर मैंने जब उनका नाम छपा हुआ देखा तब मुझे ऐसा जान पड़ा कि मैं भी पुस्तक लिख सकता हूँ, मेरा भी नाम छप सकता है। स्कूल से लौटने पर कुछ विश्राम लेकर रात में मैं लेखन-कार्य्य करने लगा।

छात्रों के लिए गणित और व्याकरण ही दुर्बोध विषय थे। मैंने इन विषयों को जिस ढङ्ग से अपने लिए सरल बना लिया था उसी ढङ्ग से अलग-अलग दो किताबें लिखने लगा। सीली जमीन पर मिट्टी की ढेबरी के धुँआधार उजाले में बड़ी-बड़ी रात तक लिखता रहता। अमिला में जब नाक से खून आने लगा था तब भीतर ही भीतर उसका असर बाईं आँख पर पड़ चुका था। मिट्टी की ढेबरी ने अपनी उष्णता से इस आँख में नासूर कर दिया। डाक्टरी इलाज से नासूर तो किसी तरह अच्छा हो गया किन्तु बाईं आँख से आज भी अविरल जल-प्रवाह बहता रहता है, बिना रोये ही रुदन का प्रदर्शन करता है। ठीक तो है, वह मेरे देहात और नगर के छात्र-जीवन की सजल स्मृतियाँ जगाता है।

...पुस्तक लिख जाने पर मैंने सहपाठियों से चर्चा की। उन्होंने दिखलाने का आग्रह किया तो उनके कपि-स्वभाव पर विश्वास नहीं

हुआ। आखिर एक साथी ने जब बहुत अनुनय-विनय की तो उसे देखने के लिए गणित की पुस्तक दे दी। वह ऐसा भला निकला कि घर ले जाकर फिर वापस नहीं ले आया।

मेरी पुस्तकों की चर्चा जब मास्टर छेदीलाल के कान तक पहुँची तब वे बहुत क्रोधित हो उठे। घर से दूर होने के कारण मैं स्कूल देर से आया करता था। उर्दू में सदा पिछड़ा रहता था। मुझे दण्ड देने के लिए उन्हें अवसर मिल गया। एक दिन बिगड़ पड़े—कहो तूँ किताब लीखलऽ, स्कूल कऽ कुछ नाहीं लिखतऽ पढ़तऽ! कहाँ हउवे तोहार किताब? लावऽ, देखीं!

...अपनी लिखी व्याकरण की पुस्तक जब मैंने उनके हाथों में दी तब एक थप्पड़ लगा कर उन्होंने उसे जब्त कर लिया।

मास्टर छेदीलाल को अपने अन्य विद्यार्थियों की अपेक्षा मुझी से अधिक आशा थी। मिडिल स्कूल के हेडमास्टर भी मेरा बहुत भरोसा करते थे, उन्होंने कह दिया था कि एक साल की पढ़ाई के बाद इसे एकदम से अपने दर्जे (सातवें दर्जे) में ले लूँगा। वे सोचते थे, यह मेरे स्कूल का नाम करेगा। ऐसे होनहार छात्र को दूसरी दिशा में मन लगाते देख कर मास्टर छेदीलाल का क्षुब्ध हो उठना स्वाभाविक ही था।

हिन्दी-मिडिल की पढ़ाई और पिटाई मशहूर है। अध्यापक अपने काम में किसानों की तरह ही सुदृढ़ और सुदक्ष होते हैं, वस्तुतः वे शिक्षित ग्रामीण हैं। यदि मिडिल स्कूल के अध्यापकों के हाथ में राज्य का शासन आ जाय तो वह किसी भी राजनीतिक दल से अधिक ठोस और उपयोगी होगा। पढ़ाई ऐसी पुख़्ता होती है कि हिन्दी-मिडिल पास कर लेने पर छात्रों को हाईस्कूलों, कालेजों, युनिवर्सिटियों

में कोई कठिनाई नहीं मालूम पड़ती; क्योंकि उनकी नींव बड़ी गहरी होती है।

मिडिल स्कूल की पढ़ाई और पिटाई छात्रों की बुद्धि और स्वास्थ्य की कसौटी है। मेरे भाग्य में वहाँ की तपस्या नहीं लिखी थी। सरस्वती के उस मन्दिर-द्वार की केवल चरण-धूलि ही ले सका।

......मेरा दुर्बल शरीर अभिला की लम्बी बीमारी में और भी निर्बल हो गया था। वह पोषण और विश्राम चाहता था। फिर भी मैंने पढ़ने-लिखने में मन लगाया। चौथे दर्जे के बाद ही शरीर अलसा गया। स्कूल देर से जाने लगा। कम सुनने के कारण क्लास में ठीक से पाठ ग्रहण नहीं कर पाता था। यदि घरेलू स्थिति ठीक होती तो किसी सहृदय ट्यूटर के सहारे पढ़ लेता। सच तो यह कि पढ़ाई से मेरा जी ऊब गया था। मुझसे किसी प्रकार का आयास नहीं हो सकता था। एक बँधी-बँधाई पटरी पर दौड़ने के बजाय मन भावना के जगत में उन्मुक्त हो जाना चाहता था।

......उसी वर्ष मैंने स्कूल का पढ़ना छोड़ दिया।

अरे, मैं यह क्या कर बैठा !!

देहात से चलते समय जीजा ने मेरे लिए जो भविष्यवाणी की थी, क्या वही सच होने जा रही थी ! मास्टर छेदीलाल ने कई बार आकर बहुत मनाया, मुहल्ले के लोगों ने भी बहुत समझाया, लेकिन स्कूल जो नहीं गया सो नही गया।

इतनी अल्पशिक्षा और इतना अपरम्पार संसार !!

बहिन किस साध से देहात से मुझे अपने साथ ले आयी थी। उसके प्रति यह मेरा कितना बड़ा अविचार, कितना बड़ा विश्वासघात था! अनजाने उसकी साधना को मैंने कितना करुण बना दिया! उसका हृदय टूक-टूक हो गया। पिताजी ने जब गृहस्थी छोड़ी होगी तब माँ का हृदय भी इसी तरह टूट गया होगा!

काशी,
२६।६।५२

उत्तर-काल

आधार की खोज में

काशी,
२७।६।५२

बहिन ने सोचा होगा कि पढ़-लिख कर आर्थिक दृष्टि से, यह स्वावलम्बी और सुखी गृहस्थ बन जायगा। माँ जैसे एक मुखरित परिवार देख कर चली गयीं वैसे ही वह भी मेरा पल्लवित परिवार देख कर सन्तोषपूर्वक इस संसार से विदा हो जायगी। किन्तु उसका स्वप्न स्वप्न ही रह गया।

दुर्बल तन, निःसम्बल जीवन ! अपनी सांसारिक स्थिति का बिना विचार किये पढ़ना छोड़ कर मैंने कितना बड़ा दुःसाहस किया था !! क्या करता, शरीर की तरह मस्तिष्क भी श्रम कर सकने में असमर्थ था—

नहिं विद्या, नहिं बाहुबल, नहिं खरचन को दाम।
मो सम पतित पतंग को तुम पत राखौ राम॥

बिना सोचे-समझे जैसे पृथ्वी पर जन्म ले लिया था वैसे ही बिना सोचे-समझे विश्व-पथ पर चल पड़ा था। बड़ों के पुण्य से किसी तरह साक्षर हो गया था। ब्राह्मण था, इस लिए वाङ्मय की ओर से कभी विमुख नहीं हुआ; बाहर से दिखाई न देने पर भी

भीतर ही भीतर मैं सरस्वती की अन्तःस्रोतस्विनी धारा का अनुसरण करता रहा।

बहिन तो स्वयं एक अन्तर्मुखी चेतना थी, किन्तु अपनी सामाजिक स्थिति के कारण किसी सीमा तक परम्परा-बद्ध हो गयी थी; इसी लिए मेरी मुक्त मनोगति को ग्रहण नहीं कर सकी। मैंने स्कूल से असहयोग किया, बहिन ने मुझसे असहयोग कर दिया।

मेरे सामने आजीविका की समस्या आ उपस्थित हुई। बहिन ने भोजन देना बन्द कर दिया था। मैं उससे लड़ने-झगड़ने लगा।

उसे ऐसी कामधेनु समझता था जिसके आश्रय में आजीवन गोवत्स ही बना रहना चाहता था। निःसन्देह वह गौ ही थी किन्तु इस वधिक युग में उसका जीवन स्वयं एक समस्या था। अरे, तब मैं उसकी सांसारिक स्थिति को, उसकी कठिनाइयों को भला क्या समझता था!

मुझे जब बहुत भूख लगती तब पियारी बहिन के पास जा पहुँचता। वे घर से बाहर कहीं जाती नहीं थीं, किन्तु मेरे लिए बहिन से अनुरोध करने चल देतीं। बहुत आग्रह करने पर भी जब बहिन मुझे आहार देने के लिए राजी नहीं होती थी तब पियारी बहिन उसके चरणों पर गिर पड़ती थीं। उनकी बात रखने के लिए बहिन मुझे खिला देती, लेकिन दुःखी होकर कह देती—इस तरह कैसे चलेगा!

मुझे भूखा-प्यासा देख कर बहिन को मुझसे भी अधिक कष्ट होता था, लेकिन मेरे ही भले के लिए वह कठोर हो गयी थी। वह मुझे निखट्टू या अकर्म्मण्य नहीं होने देना चाहती थी।

मैं सोचता—उँह, मेरा खर्च ही कितना है! कहीं से दो पैसे लेकर खिचड़ी जुटा लूँगा।

मेरे मन को सधुक्कड़ी भा गयी। मैं ज्ञान और धान्य (अन्न) की खोज में भ्रमण करने लगा।

मेरे भ्रमण में एक और घुमक्कड़ साथी सम्मिलित हो गया। वह था भदैनी के प्राइमरी स्कूल में मेरा सहपाठी, जैन-मन्दिर के पुजारी का लड़का श्यामलाल। वह चौथे दर्जे में फेल होकर, पिता से प्रताड़ित होकर, घर से निकल पड़ा था। निर्वासित होकर हम दोनों क्षुधा की शान्ति के लिए इधर-उधर भटकते रहते। श्यामलाल ढीठ था, वह जहाँ कहीं खाने की चीज़ें देखता उन पर अपना अधिकार समझ कर लूट लेना चाहता। क्या ऐसी ही मनोवृत्ति के भीतर से कम्युनिज़्म का जन्म होता है?

मेरी स्थिति श्यामलाल से भिन्न थी। मैं उसकी तरह साहसिक नहीं था। मेरा कुल-संस्कार मुझे पग-पग पर कण्टकित कर देता था। स्पर्शास्पर्श को मानता था, भक्ष्याभक्ष्य का विवेक रखता था। हर एक के हाथ का खाना खा नहीं सकता था। ब्राह्मण ब्राह्मण में भी भेद-भाव था। इस धार्मिक विधि-निषेध का मज़ाक़ उड़ाया जा सकता है, किन्तु इसके पीछे कोई न कोई वैज्ञानिक रहस्य अवश्य है। वैज्ञानिक तत्त्वों को ही हमारे यहाँ धर्म्म में समाविष्ट कर दिया गया है। विज्ञान की तरह धर्म्म का भी दुरुपयोग हो सकता है, हो रहा है।

मेरी विडम्बना यह थी कि मुझे खाना बनाना नहीं आता था। यदि संस्कृत के विद्यार्थियों की तरह मैं स्वयंपाकी बन सका होता तो मेरा स्वास्थ्य सर्वथा अरक्षित नहीं हो जाता। हस्ताक्षर की तरह अपने हाथ से भोजन बना लेना भी जीवन के लिए बहुत सुविधा-जनक हो जाता है।

खान-पान के सम्बन्ध में मेरा नियम निभ नहीं सका। भूख-प्यास से

विकल होकर किसी तरह उदर-पोषण का प्रयत्न करने लगा, किन्तु फिर भी आहार सुलभ कहाँ था! मेरी स्थिति उस पशु की-सी हो गयी जो किसी गोशाला या पिंजरापोल का प्राणी नहीं बन सका। आये दिन मुझे निराहार रह जाना पड़ता।

ऐसे ही भूखे-प्यासे दिनों में एक दिन राह में सलीम मिल गया। मुझे अपने घर ले गया। माँ से मिलाया। उसकी माँ शाहज़ादियों की तरह ही खूबसूरत थी, वह मुग़ल पद्मिनी थी। यौवन के शृंगार रस में घुल कर उसका नवल वात्सल्य मिश्री से मीठे दूध की तरह मधुर और पवित्र हो गया था। उसकी जबान शीरीं ज़बान थी। सलीम की तरह ही वह मुझे भी अपनी ममता से निहाल कर देना चाहती थी। किन्तु मुसलमान के घर में इस ब्राह्मण बालक का क्या सत्कार कर सकती थी। जब आटा देने लगी तब मैं आनाकानी करने लगा। सलीम की माँ ने कहा—आटे में कोई हर्ज नहीं है जी!

उस मुस्लिम महिला के हाथ के आटे में चाहे कोई दोष रहा हो या न रहा हो, लेकिन उसका सद्भाव स्वर्ण की तरह शुद्ध था। मैंने माँ के प्रसाद की तरह उसका अन्न ग्रहण कर लिया।

शरीर की तरह मेरा मन भी बुभुक्षित था, जिज्ञासु था। किन्तु स्वाध्याय के लिए कोई पथ-प्रदर्शक नहीं था, फिर भी मैं अपनी लगन में लगा रहा। ज्ञान की खोज में श्यामलाल मेरा साथी नहीं रह सका, वह न जाने कहाँ चला गया, मैं अकेला रह गया।

बहुत छुटपन में जब मैं वर्णमाला का विद्यार्थी था तभी से पुस्तकों के लिए मेरे मन में भावात्मक आकर्षण था। मेले में पटरियों पर बिकनेवाली, जनता को रिझानेवाली पुस्तिकाओं का रंगीन फूलदार

वार्डर का आवरण-पृष्ठ वाणी के भव्य भवन का प्रवेश- द्वार जान पड़ता था। सोचता, कब इसके भीतर मैं भी प्रवेश कर सकूँगा !

स्कूल छोड़ने पर जनसाधारण का जो साहित्य मुझे मिला वह निकृष्ट मनोरञ्जन का सूचक था, जैसे, किस्सा 'लल्लो-डल्लो।' घरों में उस समय गृहदेवियाँ पढ़ती थीं—सारंगा सदाबृज, भरथरी-चरित, गोपाल गारी। घरों का यह साहित्य मुझे सुलभ नहीं था, किन्तु उनके नाम-मात्र से ही मेरे मन में एक सामाजिक सम्मोहन कुहुक उठता था।

वय से अविकच होते हुए भी छोटी उम्र से ही मेरा स्वभाव गहिर-गम्भीर हो गया था। नदी में जब स्नान करने जाता तब कूद कर उसकी गहराई में पैठ जाता था। जब तक दम नहीं घुटने लगता तब तक भीतर ही पैठता चला जाता, साँस टूटते ही तड़फड़ा कर ऊपर उतरा आता। यही अभ्यास अब तक बना हुआ है। इस तरह शारीरिक प्राणायाम की तरह ही एक बौद्धिक प्राणायाम भी मेरे स्वभाव का अन्तरङ्ग बन गया है।

पिता का तापस संस्कार, बहिन का करुण-कोमल आभिजात्य और मेरे श्रुति-मन्द श्रवणों का नीरव-एकान्त; यह सब कुछ स्वतः एक ऐसा 'सेन्सर' बन गया कि मैं बाहरी दुनिया का कुछ भी गुन-सुन नहीं सका। अगाध जल में तिरने वाली मछली की तरह मेरी आत्मा को जीवन की उथली सतह से सन्तोष नहीं मिलता था।

स्वाध्याय के लिए मैं वाचनालय में जाने लगा। एक दिन चपरासी ने मुझे नन्हा लड़का (देहाती लड़का) समझ कर झड़प दिया। मुझे यह उसका अनधिकार जान पड़ा। मैंने दैनिक 'आज' में एक पत्र प्रकाशनार्थ भेज दिया। अब तक मैं 'मुच्छन' था। पत्र में मैंने

अपने इस बचकाने नाम को साहित्यिक बना देने के लिए 'विद्यार्थी मुच्छन द्विवेदी' लिख दिया था। संयोग देखिये, मेरा पत्र 'आज' में छप गया। अपना नाम छपा देख कर मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा। 'आज' का अपना वह नामाङ्कित अङ्क हर-एक को दिखलाने लगा। बहिन को भी दिखलाया। बहन ने उस पर ध्यान नहीं दिया। वह तो अपनी रामायण को ही सब कुछ समझती थी।

मैं भी तब अखबार को क्या जानता था, उसे भी कोई बड़ा इश्तहार ही समझता था। एक बार नाम छप जाने पर बार-बार नाम छपाने के लिए मैं दैनिक 'आज' में स्थानीय सम्बाद लिख-लिख कर भेजने लगा। मेरे सम्वादों में म्युनिस्पल बोर्ड के कुप्रबन्ध का उल्लेख रहता। कुछ छप जाता, कुछ रह जाता। कई बार नाम छप जाने से मुझमें अहम् आ गया। मैं भी अपने को कुछ समझने लगा। घर के द्वार पर टीन के टुकड़े पर खड़िया से अपना नाम लिख कर एक साइनबोर्ड लटका दिया।

सन् १६२०-२१ के दैनिक 'आज' के पाठक, विद्यार्थी मुच्छन द्विवेदी को भूले नहीं होंगे। उस समय के वाचकों के लिए मै आज भी 'नुच्छन जी' हूँ।

सन् १६२० मेरे लिए व्यक्तिगत और सार्वजनिक दृष्टि से एक ऐसे कैलेंडर की तरह सुस्पष्ट है जिसके सहारे मैं अपने जीवन के आगामी अध्यायों की अनुक्रमणिका ठीक-ठीक पा जाता हूँ। उसी वर्ष मैंने स्कूल छोड़ा, उसी वर्ष कांग्रेस ने असहयोग-आन्दोलन छेड़ा, उसी वर्ष काशी के दैनिक 'आज' का जन्म हुआ।

उसी वर्ष सेन्ट्रल हिन्दू कालेज (कमच्छा) का एक बोर्डिङ्ग हाउस मेरे मुहल्ले में आ गया था। हिन्दू-विश्वविद्यालय का निर्माण अभी

चल ही रहा था। कमच्छा पर स्थान की कमी होने के कारण भदैनी की नैपाली कोठी को छात्रावास में परिणत कर दिया गया था। बचपन में मैं नैपाली कोठी में जाता ही था, अब आर्थिक और बौद्धिक सहयोग की आशा से छात्रावास में भी जाने लगा।

गान्धीजी का दर्शन तो सुलभ नहीं था, किन्तु इसी छात्रावास की राह में कभी-कभी मालवीयजी महाराज का दर्शन हो जाता था। उनके धवल-उज्ज्वल व्यक्तित्त्व को देख कर दृष्टि शुभ्र हो जाती थी।

छात्रावास के छात्र मुझसे सब तरह से सयाने थे। न तो मैं उनके जीवन को समझ सकता था, न उनके अध्ययन को। हाथ से लिख कर वे मासिक पत्र निकाला करते थे। साफ़-सुथरी कापी को पढ़ने में मन लग जाता था। ब्रह्मचर्य्य, मूर्त्ति-पूजा और न जाने कितने विषयों पर लेख रहते। अपनी बालबुद्धि से मैं लेखों को समझने का प्रयत्न करता। किसी-किसी छात्र के पास हिन्दी की नयी-नयी पुस्तकें देख कर भाव-विभोर हो उठता। याद आते हैं कुछ पुस्तकों के नाम— उमा, रजनी, सीताराम।

जीवन-पथ के एक शिशु पथिक की तरह मैं प्रत्येक छात्र के कमरे में जा-जाकर उससे मिलता। मैं चाहता कहीं से कोई पाथेय मिल जाय, कहीं से आलोक की आभा मिल जाय!

योंही सबसे मिलते-जुलते एक दिन उस नवयुवक से परिचय हो गया जिसका व्यक्तित्त्व किसी सात्त्विक काव्य की तरह शान्तिदायक था। वे थे भैय्या मणिशङ्कर पंड्या—गौरवर्ण, सौम्यमुख, स्वस्थ श्री शुभ्र शारद परिधान! उस दिव्य गुर्ज्जर व्यक्तित्त्व की सरलता, उज्ज्वलता, सहृदयता और भव्यता ने मेरे सन्तप्त जीवन में कर्पूर, चन्दन और चाँदनी का आसव घोल दिया।

काशी,
३०-६-५२

कुतूहल और प्रेरणा

काशी,
१-७-५२

दैनिक 'आज' मैं नियमित रूप से पढ़ने लगा। समाचारों और लेखों को समझ नहीं पाता था, फिर भी मेरा मन उसमें लग जाता था, उसके द्वारा मेरे सार्वजनिक अध्ययन का आरम्भ हुआ।

एक दिन 'आज' में एक समस्या-पूर्त्ति छपी थी। वह टाउनहाल के किसी कवि-सम्मेलन में पढ़ी गयी थी। नागरिक समारोहों से मैं अभी अपरिचित था। समस्या थी—'भाखै बनै न बनै बिनु भाखै।' पूर्त्ति इस प्रकार थी—

सेवक छात्र, पिता गुरु हैं,
कलि में यह नीति गयी धरि ताखै।
सेवक को गुरु मानै नहीं,
गुरु को लखि सेवक हू मन माखै॥
आप अनीति सदैव करै गुरु,
सेवक बेंतन मारि कै राखै।
हा, गुरु-सेवक की करनी यह,
भाखै बनै न बनै बिनु भाखै॥

इस सीधी-सादी समस्या-पूर्त्ति को भी समझने योग्य काव्य-प्रतिभा उस समय मुझमें नहीं थी। जो कुछ उल्टा-सीधा समझा उससे मेरा मनोरञ्जन ही हुआ।

समस्या के पूर्त्तिकार का नाम छपा था—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'। यह नाम परिचित-सा जान पड़ा क्योंकि मुहल्ले के वैद्यराज के सुपुत्र का नाम भी 'बेचन' था। नाम की बहुत बारीक छान-बीन किये बिना ही सम्मान प्रदर्शित करने के लिए मैं उनके यहाँ जा पहुँचा।

मैंने कहा—वह कविता तो बड़ी अच्छी छपी थी, क्या आप ही ने लिखी थी?

उन्होंने हँस कर कहा—हाँ-हाँ, वह मेरी ही कविता थी।

उनके इस कथन पर आस-पास बैठे हुए लोग भी हँस पड़े। हँसी थम जाने पर जब उस कविता के वास्तविक रचयिता की ओर सङ्केत किया गया तो मैं देख कर स्तब्ध हो गया—अरे, ये हैं पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'! मँझोला क़द, नवीन वय के नये स्वास्थ्य से हृष्ट-पुष्ट सुगठित शरीर!!

दो दिन पहिले ही गङ्गा-तट पर मेरी उनसे मुठभेड़ हो चुकी थी। तब मैं क्या जानता था कि वे कवि हैं! वे सन्ध्या कर रहे थे, मैं तैर रहा था। तैरते-तैरते जानबूझ कर उनकी तरफ चला गया। मुहल्ले के लड़के अपने घाट पर अपना राज्य समझते थे। और कहीं तो उनका वश नहीं चलता था, लेकिन घाट पर अजनबी लोगों से छेड़-छाड़ करने में उन्हें अपनी अधिकार-लिप्सा का सुख मिलता था। मैं तैरते-तैरते अपने पैरों की छपाछप से उग्र जी पर छींटे डालने लगा। उन्होंने मना किया। मैंने सोचा—ये तो नहा चुके हैं, अब भला पानी

में क्या उतरेंगे ! उनके मना करने पर मैं और भी तेजी से छप-छप करने लगा। अरे, यह क्या ! वे तो धम्म से पानी में कूद पड़े ! फिर तो गंगा में नागनथैय्या हो गया।

......उस दिन जब कवि के रूप में मैंने उनका परिचय पाया तब लज्जा और आदर से मेरा मस्तक झुक गया।

उग्रजी सेन्ट्रल हिन्दूस्कूल (कमच्छा) में आठवें दर्जे में पढ़ते थे। असहयोग-आन्दोलन में पढ़ना छोड़ कर अपने बड़े भाई त्रिदण्डी जी के साथ मुहल्ले के वैद्यराज के यहाँ रहते थे। पढ़ना छोड़ने का कारण उनका स्वाभिमानी स्वभाव भी हो सकता है। उस समय सेन्ट्रल हिन्दू-स्कूल के हेडमास्टर थे पण्डित गुरुसेवक सिंह उपाध्याय। अपनी समस्या-पूर्त्ति में उग्रजी ने उन्हीं के नाम का श्लेष कर अपना असन्तोष प्रकट किया था।

उनसे परिचय हो जाने पर मैं उनके साहित्यिक सम्पर्क में आ गया। एक दिन तट पर उनसे फिर भेंट हो गयी। गङ्गाजल से भरा गागर सिर पर रख कर मैं सीढ़ियों पर चढ़ रहा था, उग्रजी नहाकर ऊपर आ रहे थे; मेरा गागर उन्होंने अपने दाहिने हाथ की उँगुलियों के चंगुल में इस तरह उठा लिया मानो वह कोई हलका-फुलका पञ्चपात्र हो ! वे उसे लिये हुए मुझसे पहिले ही ऊपर पहुँच गये। मैं उनकी सामर्थ्य पर चमत्कृत हो गया। वे सब तरह से मुझसे बड़े थे। क्या उस गागर की तरह ही मेरे जीवन का भार भी हलका कर सकते थे !

साहित्य-जगत को यह नहीं ज्ञात होगा कि उग्रजी का एक नाम शशि-मोहन पाण्डेय भी है। उनकी किशोरावस्था का एक चित्र मैंने देखा है, सचमुच वे शशिमोहन ही थे। उस सुकोमल नाम से उनकी कोई रचना शायद कहीं प्रकाशित नहीं हुई। वह नाम उनके हृदय का

प्रतिनिधित्व करता था। न जाने कब किस मधुर अतीत में शशिमोहन का शोभा-सम्पन्न स्वरूप पीछे छूट गया, दुनिया की जटिलताओं से क्लिष्ट होकर 'उग्र' का रूप सामने आ गया।

प्रारम्भ में उग्रजी से मुझे मृदुलता ही मिली।

उनकी एक छोटी-सी कविता-पुस्तक छप चुकी थी। नाम था—"तपस्वी ध्रुव'। उसके मुखपृष्ठ पर यह आदर्श-वाक्य मुद्रित था—

तपस्या साधनाओं की जड़ी है।
तपस्या श्रेष्ठ जग में हर घड़ी है॥
तपस्या से सभी हैं कार्य्य होते।
तपस्या से बली हैं आर्य्य होते॥

पुस्तक का आरम्भ इस प्रकार किया गया था—

जिस प्रकार पयोनिधि में सदा
कमललोचन श्रीयुत शोभते।
बस, उसी विधि उर उग्र में
निवसिये बसिये कमलापते!॥

उस बाल-वय में वह पुस्तक मुझे इतनी अच्छी लगी कि मैं घूम-घूम कर स्कूलों में उसे बेचने लगा। बिक्री से जो कमीशन मिला उससे मैंने अपने नाम का मुहर बनवा लिया। वह ऐसे खिलौने की तरह, जिसका उपयोग करना मैं जानता नहीं था, कहीं खो गया।

दैनिक 'आज' में किसी के नाम के आगे 'विशारद' छपा था। मैंने उग्रजी से पूछा—यह विशारद क्या है? उन्होंने कहा—साहित्य की उच्चकोटि की परीक्षा में पास हो जाने पर यह उपाधि मिलती है। तुम भी पास कर लो तो तुम्हें दस रुपया इनाम दूँगा।

वह परीक्षा मुझे अपने बूते के बाहर जान पड़ी, मैं चुप रह गया। यह भी नहीं पूछ सका कि वह परीक्षा किस संस्था की ओर से कब और कहाँ होती है !

तुतलाहट टूटने पर शिशु जिस तरह नये-नये शब्दों, नयी-नयी अभिव्यक्तियों, नयी-नयी प्रेरणाओं को ग्रहण करता और फिर जो कुछ भा जाता है उसका अनुसरण करता है; उसी तरह मैं भी अपने चारों ओर की सृष्टि में संग्रह और संसरण कर रहा था।

नगर के राजपथ पर आते-जाते एक दिन किसी छोटे-से छापाखाने के सामने कुतूहल-वश रुक गया। प्रेस क्या, प्रकाशक क्या, कुछ भी नहीं जानता था। केवल अपनी पाठ्यपुस्तक की दूकान को ही जानता था। उस छोटे-से छापाखाने में एक आदमी हाथ से हैंडिल घुमा कर बड़े साइज का काग़ज़ छाप रहा था। मैं ध्यान से देखने लगा कि कैसे सादा काग़ज़ नीचे जाकर फिर छप कर ऊपर आ जाता है ! अरे, इस काग़ज़ पर तो एक भी अक्षर नहीं था, ये इतने अक्षर कैसे उभर आये ! यह भी क्या कोई जादू है ! ! ऐसे जादूघर से छपी पुस्तकें देख कर मन पर कैसा सम्मोहन छा जाता रहा होगा ! क़ाग़ज़ भी महँकने लगता था।

एक दिन मैंने उग्रजी से कहा—किसी पुस्तक में मेरा भी नाम छपा दीजिये।

उन्होंने कहा—अच्छा।

'कब दिखाइयेगा ?'

'कल'।

दूसरे दिन जब मैं उनके पास पहुँचा तब उन्होंने बड़ी गम्भीरता से मुझे किसी मोटी किताब में से एक कविता दिखाई। उस कविता में पाँच बार मेरा नाम आया था—

जिहि मुच्छन धरि हाथ कछू जग सुजस न लीनो।
जिहि मुच्छन धरि हाथ कछू परकाज न कीनो।
जिहि मुच्छन धरि हाथ कछू परपीर न जानी।
जिहि मुच्छन धरि हाथ दीन लखि दया न आनी।

मुच्छ नाहिं वे पुच्छ-सम कवि 'मरमी' उर आनिये।
नहिं वचन-लाज नहिं दानगति तिहि मुख मुच्छ न जानिये॥

मुझे बड़ा आश्चर्य्य हुआ कि इतनी जल्दी, इतनी मोटी किताब में मेरा नाम कैसे छप गया! यह तो बहुत बाद में, साहित्यिक क्षेत्र में आने पर मालूम हुआ कि वह 'कविता-कौमुदी' का पहिला भाग था जिसके अन्तिम पृष्ठों में यह पद्य संकलित था।

मैं मुच्छन तो था, लेकिन मुझे मोछ नहीं थी, मैं तो मुच्छ-विहीन शिशु था। वह परिहास मुझ पर फिट नहीं बैठता था। मैंने त्रिदण्डी जी से कहा—आप मेरे नाम से कोई कविता बना दीजिये।

'आज' में भेजे हुए मेरे बहुत-से सम्वाद अस्वीकृत हो जाते थे। न छपने से मेरा मन उदास हो जाता था। त्रिदण्डी जी 'आज'-कार्य्यालय में काम करते थे। उन दिनों 'आज' के प्रमुख सम्पादक महामहिम बाबू श्रीप्रकाशजी थे। उन्हीं के शुभ नाम के साथ मेरे नगण्य नाम का उपयोग कर त्रिदण्डी जी ने पाँच दोहे बना दिये। वे दोहे 'प्रकाश-पञ्चक' शीर्षक से प्रसिद्ध हो गये। इस समय मुझे केवल एक ही दोहा याद है—

श्रीप्रकाश को मोछ है, मुच्छन मुच्छ-विहीन।
याते उनके लेख सब हैं कौड़ी के तीन॥

'आज' के सम्पादकीय विभाग में उन दोहों ने परिहास का रंग

जमा दिया। श्रीप्रकाशजी बहुत हास्यप्रिय हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी स्वयं ही अपना मज़ाक़ उड़ा लेते हैं। उन्होंने उस 'प्रकाश-पञ्चक' का प्रसन्न मन से स्वागत किया। दोहे किसी ने लिखे थे, नाम मेरा हो गया।

... ...

सन्' २० के असहयोग-आन्दोलन में उग्रजी ने बड़े उत्साह से भाग लिया। उस समय के उनके मित्रों में पण्डित कमलापति त्रिपाठी गण्यमान्य हैं।

उग्रजी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर देहातों में भाषण देने जाया करते थे। मैं भी उनके साथ-साथ जाता था। एक दिन सभा में उन्होंने पंजाब-हत्याकाण्ड का ऐसा हृदयद्रावक वर्णन किया कि मेरे रोंगटे खड़े हो गये। तब तक मैंने कांग्रेस, जालियाँवाला बाग़, मार्शल लॉ, रौलट बिल, इत्यादि का नाम भी नहीं सुना था।

एक दिन सभा समाप्त होने पर ग्रामीण श्रोताओं ने फ़रियाद की कि मालवीयजी विश्वविद्यालय के लिए हम लोगों के घर, खेत, सब कुछ समेटते जा रहे हैं। हम लोगों का निबाह कैसे होगा?—(आज तीस-बत्तीस वर्ष बाद यही प्रश्न ज़मीदारों के सामने आ उपस्थित हुआ है!)।

सन्' २०-२१ का असहयोग-आन्दोलन, अपने में सर्वथा नवीन होने के कारण, समुद्र के ज्वार की तरह उमड़ पड़ा था। स्कूलों, कालेजों, युनिवर्सिटियों, अदालतों, कौंसिलों और सरकारी कार्य्यालयों का बहिष्कार संक्रामक रोगों की छावनी की तरह हो रहा था। चरखे-करघे का प्रचार और राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना का प्रयत्न किया जा रहा था।

मालवीयजी महाराज का हिन्दू विश्वविद्यालय अभी तैय्यार भी नहीं हो पाया था कि बहिष्कार का यह कैसा अन्धड़ आ गया! सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के छात्र हाथ से विज्ञप्ति लिख कर इधर-उधर पेड़ों के पत्तों में नत्थी कर दिया करते थे। उनकी विज्ञप्ति में मालवीयजी के प्रति व्यंग-विद्रूप रहता था। असहयोग-आन्दोलन की विशेषता थी सविनय अवज्ञा। 'सविनय'-शब्द तो छूट गया, केवल अवज्ञा ही अवज्ञा रह गयी। छात्रों की अनुशासन-हीनता का परिचय उसी समय मिलने लगा था।

सन्' २१ में लोगों में राष्ट्रीय चेतना जगाने के लिए 'जन-काव्य' खूब लिखा गया। जनता की ही भाषा में, उसी के लय में रची गयीं उन कविताओं का यदि संग्रह किया जाय तो ऐतिहासिक और साहित्यिक अध्ययन के लिए एक स्वाभाविक सामग्री मिल सकती है। प्रगतिशील युग के पूर्व ही जन-काव्य की दिशा में सफल प्रयोग हो चुका था।

उग्र जी ने भी मिर्जापुरी बोली में एक सहज कविता लिखी थी। पत्र-पत्रिकाओं में उनकी उच्चकोटि की राष्ट्रीय कविताएँ भी छपती थीं। सन् १९२१ में उन्हें अपनी एक कविता पर कानपुर का खन्ना-पुरस्कार मिला था।

मैं ग्रामीण जनता के रूप में ही उग्र जी के सम्पर्क में आया था। उनके साथ नगर में आते-जाते मेरा परिचय अन्य लोगों से भी हो गया। कुछ दिनों बाद वे मेरे मुहल्ले से चले गये। मैं फिर अपनी ही इकाई में एकाकी रह गया।

सन्' २१ में हिन्दू विश्वविद्यालय चालू हो गया था। मैं साँझ को प्रायः विश्वविद्यालय के छात्रावासों की ओर चला जाता। वहाँ के

कॉमन रूम में पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ा करता। सांसारिक सीमाओं से दूर छात्रों का समाज मुझे अपना ही बान्धव जान पड़ता था।

एक दिन घर से बाजार की ओर जाने के लिए गली में मुड़ रहा था। अचानक देवता के अयाचित और अप्रत्याशित वरदान की तरह सामने ही देश के तरुणों के हृदय-सम्राट पण्डित जवाहरलाल नेहरू का साक्षात्कार हो गया, मैंने श्रद्धानत होकर मानों भारत के भविष्य का ही चरण-स्पर्श कर लिया। उस समय धोती कुरता और गान्धी टोपी पहने हुए नेहरूजी कोई सुदर्शन आर्य्यपुत्र जान पड़ते थे।

उन्होंने मेरे किशोर मस्तक पर आशीर्वाद का हाथ रख दिया। उनके पीछे श्रीप्रकाशजी भी थे। वे मेरी ठेठ आत्मा की अकृत्रिम प्रणति को देखकर स्नेह से पुलक उठे। प्यार से मेरी पीठ थपथपा कर बोले—तुम्हारा क्या नाम है बच्चे!

मैंने जब अपना नाम बतलाया तब वे किलक कर बोलउठे—अच्छा! आप ही 'आज' में मनोरञ्जक सम्बाद लिखा करते हैं!!

मैं संकोच से ज़मीन में गड़ गया।

काशी विद्यापीठ के लिए उपयुक्त भूमि की तलाश में ये राष्ट्रीय नेता मेरे मुहल्ले में आ पहुँचे थे और गङ्गातट की ओर जा रहे थे। मुझे उनके शुभ दर्शनों में गङ्गा का ही पुण्य वात्सल्य मिला।

काशी,
४।७।५२

नेताओं की झाँकी

काशी,
४-७-५२

काशी विद्यापीठ की स्थापना सन्' २१ में मेरे ही मुहल्ले (भदैनी) में हुई थी। देश के सभी विख्यात नेता उसके संस्थापन-समारोह में सम्मिलित हुए थे। मुहल्ले का वही मैदान सभास्थल बन गया था जहाँ बचपन में मैं खेला करता था। मञ्च पर सबसे आगे पण्डित मोतीलाल नेहरू और महात्मा गांधी बैठे हुए थे, उन दिनों वे धोती कुरता और टोपी पहनते थे।

विद्यापीठ का उद्घाटन गान्धीजी के भाषण से हुआ। वे अभी भाषण दे ही रहे थे कि सभा में खलबली मच गयी। गान्धीटोपी के शुभ्र वातावरण में पुलिस की लाल पगड़ी रक्तचिह्न की तरह दिखाई देने लगी। पुलिस अवध के एक किसान-कार्य्यकर्त्ता को गिरफ्तार करने आ पहुँची थी। उनका नाम था बाबा रामचन्द्र। मैंने उन्हें कभी देखा नहीं। किन्तु बचपन से ही 'बाबा'-शब्द मेरे लिए किसी ऐसे वयोवृद्ध निरीह प्राणी का प्रतीक बन गया था जो मन में पारिवारिक संवेदन जगा देता है। अतएव उन अनजाने और अन-चीन्हे रामचन्द्र बाबा की गिरफ्तारी पर मैं रो उठा। ओह, कैसा द्रवणशील सजल-कोमल मन लेकर मैंने संसार में पदार्पण किया था!

विद्यापीठ के समारोह के बाद मैं नगर की अन्य सार्वजनिक सभाओं में जाने लगा। रामलीला और कृष्णलीला पीछे छूट गयी, मेरे युग की विश्वलीला दृष्टि-पथ पर आ गयी।

... ...

उन दिनों जनता को जगाने के लिए देश के नेता दौरा करते हुए बनारस में भी आया करते थे। टाउनहाल का मैदान लोक-समागम से हिल्लोलित और कल्लोलित हो उठता था। कैसे-कैसे श्रोता थे, कैसे-कैसे वक्ता, कैसे-कैसे उनके तर्ज़!

राजेन्द्र बाबू उस समय अपने पहनावे और दुबले-पतले व्यक्तित्व में अनागरिक जान पड़ते थे। वे ऐसे बोलते थे जैसे देहात की किसी चौपाल में कोई मुदर्रिस बोल रहा हो। टन्डनजी अपनी कृश काया में बिजली की तरह कौंधते थे। उनका भाषण किसी ऐसे कुशल वकील के डिबेट-जैसा लगता था जो प्रतिपक्षी को ललकारते हुए अपना वक्तव्य प्रारम्भ करता है।

श्रीमती सरोजिनी नायडू का भाषण भी मैंने पहिल-पहिल टाउनहाल में सुना। लोग उन्हें भारत-कोकिला कहते थे। भाषण देते समय वे सलज्ज भाव-भंगिमा से अपनी ग्रीवा हिला-हिला कर झूमने लगती थीं। श्रोताओं को सम्बोधन करते हुए बोल उठतीं—'मेरे प्यारे बच्चो!' सच-मुच, उनके वात्सल्यपूर्ण कवि-हृदय के लिए जनता अबोध शिशु ही थी।

डाक्टर भगवानदास के बोलने का ढंग घरेलू था। जनता को वे इस तरह बातें समझाते थे जिस तरह परिवार का कोई बूढ़ा-बूढ़ा गृह-परामर्श देता है। मूल प्रसङ्ग की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए वे बीच-बीच में कहते जाते—'सज्जनो! फिर वही बात घूम कर आवता है।'

टाउनहाल के भवन में एक बार सी. एफ़. एन्ड्रूज़ का भी भाषण हुआ था। डा० भगवानदास सभापति थे। दाढ़ी और मुखाकृति में दोनों महानुभाव कुछ-कुछ मिलते-जुलते थे। खादी के सफ़ेद कुरते में दुबले-पतले सन्त एन्ड्रूज सीधे-सादे सरल मानव जान पड़ते थे। यों कहें, चाँदनी के परिधान में वे कोई सूक्ष्म दैवी आत्मा थे। उनमें आधुनिक नागरिकता का लेशमात्र भी नहीं था। वे शुद्ध सामाजिक प्राणी थे। याद नहीं, उनका भाषण अंग्रेजी में हुआ था या हिन्दी में। किन्तु सभा के अन्त में जब वे विदाई के लिए खड़े हुए तब तुतली हिन्दी में उन्होंने बच्चों की तरह पुलकित होकर कहा—'महात्मा गान्धी की जय!' डाक्टर भगावानदास ने भी उनके सारल्य में पग कर, उनके शिशु कण्ठ से कण्ठ मिला कर प्रमुदित हृदय से कहा—'महात्मा गान्धी की जय!'

मालवीयजी महाराज उन दिनों टाउनहाल की सार्वजनिक सभाओं में दिखाई नहीं देते थे। उनका भाषण कभी-कभी सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के शर्मा हॉल में होता था। अपने भाषण में वे प्राचीन भारत के गौरव और संस्कृति की याद दिलाया करते थे। हिन्दू विश्वविद्यालय ही उनके भाषणों का विचार-विन्दु रहता था। उसी के स्वप्नों में वे निमग्न रहते थे। प्राचीन भारत के विश्वविद्यालयों की तरह ही विश्व की सम्पूर्ण विद्याओं से उसे सुसम्पन्न देखना चाहते थे। उनके नाम के अनुरूप ही उनके व्याख्यानों में मोहकता रहती थी। छात्रों के बीच में वे इस तरह बोलते थे मानों उन्हीं के कोई वयोधिक सखा हों। वे उन्हें 'यारो' कह कर सम्बोधित करते थे। बड़े ज़िन्दादिल और खुशमिजाज थे। एक बार भाषण देते हुए उन्होंने छात्रों से कहा—किसी दिन हम लोग देखेंगे कि काशी विश्वविद्यालय में हवाई जहाज भी बनने लगा है। तुम लोगों के साथ यह बुड्ढा भी उस पर बैठ कर विश्व विद्यालय के आकाश में मौज से मँडरायेगा।

सभाओं से मेरी राष्ट्रीय जानकारी बढ़ी। किन्तु बाहरी जगत मेरे लिए केवल बाह्य वायुमण्डल था, वह मेरे भीतर की साँस नहीं बन सका। मै चाहता था आत्मोन्मेष और अपने अभ्यन्तर की अभिव्यक्ति।

एक दिन ट्रेनिंग कालेज के छात्रावास के मैदान मे स्वामी सत्यदेव का भाषण हुआ। तब तक मै उनके नाम और गुणग्राम से परिचित नही था। स्वामीजी ने अपने भाषण का आरम्भ मीरा के भजन से किया था—

मोरे राणाजी, मै तो गोविन्द के गुन गाना जी!
राजा रूठे, नगरो राखे अपनी,
हरि रूठे, कहाँ जाना जी!

उनके ओजस्वी और आत्मनिमग्न कण्ठ की स्वर-लहरी से श्रोतागण मन्त्रमुग्ध हो गये। भाषण समाप्त होने पर नवयुवको का दल, बादल की तरह उनकी अभ्यर्थना के लिए उमड पडा।

मैंने सोचा, वे भी कोई वक्ता ही होगे। एक छात्रमित्र ने बतलाया उन्होंने बहुत-सी पुस्तके लिखी है, उनका बड़ा नाम है।

मै स्वामीजी की पुस्तकें पढ़ने के लिए लालायित हो उठा। कहाँ मिलेंगी वे!

मेरे पड़ोस में वैद्यराजजी के यहाँ उनके भानजे पाण्डेय चन्द्रशेखर शर्म्मा * रहते थे। सेन्ट्रल हिन्दूस्कूल मे पढ़ते थे। स्वामी सत्यदेव-लिखित 'अमरीका-भ्रमण' नामक पुस्तक उनके पास थी। वह

---

* सनातन धर्म्म कालेज (कानपुर) के संस्कृत-विभाग के दिवङ्गत अध्यक्ष।

उन्हें स्कूल से पारितोषिक में मिली थी। उनकी कृपा से मुझे भी पढ़ने के लिए मिल गयी।

'अमरीका-भ्रमण' की भाषा और वर्णन-शैली ने मेरे मन को स्पर्श कर लिया। उससे प्रभावित होकर मैं स्वामीजी की अन्य पुस्तकें भी खोज-खोज कर पढ़ने लगा। उनकी लेखनी का चमत्कार मेरे मन पर ऐसा छा गया कि अहर्निश मैं उन्हीं का मनन-चिन्तन करने लगा। निःसन्देह गुप्तजी की कविता की तरह ही स्वामी सत्यदेवजी की पुस्तकों ने भी किशोरावस्था में न जाने कितनों को अनुप्राणित किया होगा।

अध्ययन से मेरे मस्तिष्क को थोड़ा-बहुत आहार मिलने लगा था, किन्तु पेट भूखा का भूखा ही रह जाता था। आर्थिक उपार्जन के लिए मुझमें कोई योग्यता नहीं थी। स्वामीजी की पुस्तक ('अमरीका में निर्धन विद्यार्थियों का परिश्रम') पढ़ कर मजदूरी करने की इच्छा हुई। एक दिन विश्वविद्यालय की ओर ईंट ढोने के लिए गया किन्तु मेरा दुर्बल शरीर जवाब दे बैठा। अब क्या करूँ?

मेरी लिखावट अच्छी थी। प्रतिलिपि का काम करने लगा।

प्रतिलिपि का काम बहुत कष्टकर था। एक बार स्वर्गीय रामदास गौड़ के यहाँ राष्ट्रीय रीडरों की प्रेसकापी तैय्यार करने का काम मिला। वहाँ इतना परिश्रम करना पड़ा कि एक ही दिन में मेरे दाहिने हाथ की मध्यमा उँगली में घट्ठा पड़ गया। वह घट्ठा आज भी पिरामिड के रूप में मेरे परिश्रम का स्मारक बना हुआ है।

मैं कोई ऐसा निर्जीव यन्त्र नहीं था कि आपा खोकर दूसरों की नक़ल ही करता रहता। प्रतिलिपि करने की अपेक्षा मैं एक रचनाकार की तरह अपने प्राणों का स्वतन्त्र स्फुरण चाहता था।

काशी,
७ जुलाई, १९५२

अलक्षित भविष्य की ओर

काशी,
७ जुलाई, १९५२

श्री श्रीप्रकाशजी मुझे भूले नहीं थे। ज्ञानमण्डल के साथ जब 'आज'—कार्यालय गुरुधाम (दुर्गा कुण्ड रोड) से उठ कर कबीरचौरा चला गया तब वहाँ मुझे भी कुछ काम मिल गया। मुझमें कोई योग्यता तो थी नहीं। यह श्रीप्रकाशजी की सहृदयता थी कि मेरे जैसे अ-लौकिक प्राणी को भी उन्होंने उस लौकिक परिधि में बुला लिया।

श्रीप्रकाशजी ने कैम्ब्रिज से बैरिस्टरी पास की थी। सम्भ्रान्त कुल के गृह-संस्कार और पश्चिम के नागरिक संस्कार के समावेश से उनके स्वभाव में एक ऐसी सार्वजनिकता का उन्नयन हो चुका था जो सबको अपनी सामाजिक ममता देने के लिए विह्वल हो उठती थी। इसी कारण उन्होंने मुझे भी अपना लिया था।

प्रेस में मैं बड़े मनोयोग से अपनी सजीव क्रियाशीलता का परिचय देने लगा। मुझमें वही लगन थी जो किसी नये अनुभव के लिए बालक में होती है।

एक दिन प्रधान प्रूफ़रीडर की गलतियों की ओर जब मैंने उसका ध्यान दिलाया तो वह अपनी झेंप मिटाने के लिए बोल उठा—गलतियाँ ठीक करना सम्पादकों का काम है, हमारा तुम्हारा नहीं।

कार्य्यालय का तौर-तरीक़ा देख कर मुझे ऐसा जान पड़ा कि प्रेस का यान्त्रिक वातावरण मेरे उद्भिद स्वभाव के अनुकूल नहीं है। जिस उन्मुक्त मनोविकास के लिए मैंने स्कूल का पढ़ना छोड़ा, वह भला यहाँ कैसे अवरुद्ध रह सकता था! कुल दो-तीन महीने के बाद मैंने प्रेस छोड़ दिया। अपने शुभेच्छु श्रीप्रकाशजी को सूचना भी नहीं दे सका।

भारत माता के दुग्ध-धवल आँचल की तरह खादी मेरे देहाती शरीर का परिधान बन चुकी थी। उसी के चन्द्रिकोज्ज्वल आवरण में लिपटा मेरा शशक-सा शिशुगात कृत्रिम नागरिक वातावरण में सञ्चरण कर रहा था। उस वन्यजीव की तरह ही मैं भी कहीं कुछ क्षण रुक जाता, फिर घबड़ा कर भाग निकलता।

उन दिनों असहयोग-आन्दोलन के विरोध में बृटिश सरकार के समर्थकों ने 'अमन सभा' का जाल फैला रखा था। आजीविका की खोज में भटकता हुआ मैं भी उन लोगों के अकर्म्मण्य समाज में जा पहुँचा।

अमन सभा में रायसाहबों, रायबहादुरों, सरकारी कर्म्मचारियों और नगर के पूँजीपतियों का सहयोग था। यह स्वार्थों का वह समूह था जो अपने लिए तो जीवन की सभी सुविधाएँ सुरक्षित रखना चाहता था किन्तु मेरे-जैसों का जीवन दया-दाक्षिण्य का मोहताज बना कर अरक्षित ही रहने देना चाहता था। स्थापित स्वार्थों का यह समूह राजनीति की ओट में दमन का साथ देकर और धर्म्म की ओट में साम्प्रदायिक विद्वेष भड़का कर अपने क्षुद्र अस्तित्व की रक्षा कर रहा था।

कुछ दिनों मुझे रायसाहब गोस्वामी रामपुरी के यहाँ रहने का अवसर मिला। वे आनरेरी मजिस्ट्रेट और सरकार के विशेष कृपापात्र थे। विश्वनाथ गली में उनका विशाल मठ था। उनके गौरवर्ण रक्ताभ

शरीर का सौन्दर्य्य ऐश्वर्य्य से द्युतिमान् था। संन्यासी होने के कारण वे नवल किसलय-सा काषाय कौषेय पहनते थे। किन्तु उनका शरीर तो बिना गैरिक आवरण के ही अरुणाभ था।

मठ का राजसिक वातावरण मेरे अन्तःकरण के लिए अनमेल फ्रेम की तरह था। निर्धन होते हुए भी मुझे उत्तुङ्ग प्रासाद और विपुल वैभव प्रभावित नहीं कर पाता था। वर्ग-चेतना के बहुत पहिले ही मेरी शिशु-चेतना को वह सब अस्तित्त्व-शून्य जान पड़ता था। तब तक मैंने जीवन को आर्थिक दृष्टि से देखा नहीं था। मैं अपनी ही भावना के साम्राज्य में मग्न रहता था। संसार का सुख-दुख मेरी नयी इन्द्रियों को गुदगुदी और चिकोटी की तरह बाहर ही बाहर स्पर्श कर विलीन हो जाता था। भीतर का अव्यक्त चेतन सांसारिक मूल्यों को तुच्छ करते हुए मुझे अनजाने किसी विशेष उद्देश्य की ओर अग्रसर करता जा रहा था।

एक दिन गोस्वामी रामपुरी का आवास छोड़ कर मैं फिर अपनी राह पर चल पड़ा।

काशी,
१५ जुलाई, १९५२

एक सामाजिक उद्यान

काशी,
१५ जुलाई, १९५२

मैं क्षेत्र में भोजन करने लगा और स्वाध्याय के लिए सयत्न रहने लगा। संस्कृत के किसी विद्यार्थी के जीवन-जैसा ही तो मेरा भी जीवन था।

मेरे चारों ओर का संसार किसी विश्वविद्यालय की तरह था। बिना किसी बाह्य निर्देशन के मैं जुगनुओं की तरह अपनी ही बालज्योति में अपना पथ खोजता रहता था। कभी इधर चला जाता, कभी उधर।

व्यक्तियों से तो मैं मिलता ही था, संस्थाओं से भी मैं कुछ ग्रहण करना चाहता था।

एक दिन घूमते-फिरते आर्य्यसमाज भवन जा पहुँचा। वहाँ का वातावरण मुझे शुष्क जान पड़ा। हवन, प्रवचन, सामाजिक सम्मिलन यह सब तो ठीक था, किन्तु उसमें भावना का उन्मेष नहीं था। कर्त्तव्य कवित्त्व से ही मनोरम हो सकता है। सूर, तुलसी, मीरा ने जीवन को कला से प्रभावित किया था।

भवन के ऊपर भोजन का आयोजन था। मेज के अगल-बगल

कुर्सियाँ रखी हुई थी। एक पंजाबी ने दूसरे पंजाबी से कहा—आइये महाशय जी, खाना खा लिया जाय। दोनों एक ही थाल में खाना खाने बैठ गये। वाह, कैसा बन्धुत्त्व है! दोनों के कपड़े गन्दे, दाँत गन्दे!

आज कल का सामाजिक सुधार मुझे उस शीशे के गिलास-जैसा चमकीला जान पड़ा जो देशी वर्त्तनों की तरह मिट्टी से खूब मल-मल कर बिना माँजे ही सबका काम चला देता है। मनुष्य साधना नहीं, सुविधा चाहने लगा है।

सड़क पर ईसाइयों के भजन और व्याख्यान सुनते-सुनते मुझे उनके समाज को भी देखने की इच्छा हुई। रविवार को मैं चर्च में जाने लगा। वहाँ सबके सम्मिलित कण्ठ का प्रेयर एक लय, एक प्राण बन कर कानों में गूँज उठता था। क्या उनके जीवन में भी यही एकता थी?

एक ईसाई प्रचारक से मेरा परिचय हो गया। वह ब्राह्मण था, न जाने किस प्रलोभन से ईसाई हो गया था। दशाश्वमेध की सड़क पर किसी अँधेरी गन्दी कोठरी में रहता था। बाहर ऐसे ठाट-बाट से निकलता था मानों सीधे इँगलैण्ड से आ रहा हो। मैंने कहा—भाई तुम तो स्वर्ग का प्रचार करते हो, लेकिन तुम्हारी कोठरी तो नरक बनी हुई है।

उसके भीतर अपनी स्थिति से असन्तोष जाग पड़ा। वह विद्रोही की तरह बोल उठा—बड़े पादरी से कहो न कि तुम बड़े धर्म्मात्मा बनते हो लेकिन अपने लोगों को किस नरक में सड़ा रहे हो!

मैं बड़े पादरी से मिला। वे किसी आगन्तुक से बातचीत कर रहे थे। मुझे ले जाकर दूसरे कमरे में बैठा दिया और मन लगाने के

लिए एक अच्छी पुस्तक दे दी। इस सद्व्यवहार का मुझ पर अच्छा असर पड़ा।

पादरी से जब मैंने कहा, मैं भी ईसाई धर्म्म के सम्पर्क में आना चाहता हूँ, तब उन्होंने बड़ी सज्जनता से कहा—पहिले अपने धर्म्म को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। उसमें कोई कमी हो तो दूसरे धर्म्म को भी देखा जा सकता है।

उनके इस कथन से ऐसा जान पड़ा कि ईसाई होते हुए भी वे उस समाज से सन्तुष्ट नहीं थे।

सिगरा के गिरजा घर से आते-जाते राह में थियासौफ़िकल का अहाता पड़ता था। उसका सुन्दर उद्यान और शान्त वातावरण मन को आकर्षित कर लेता था। कभी-कभी उत्सवों में मैं वहाँ आने-जाने लगा।

एक उत्सव में श्रीमती एनी बेसेन्ट को पहिली बार देखा। वे स्काउटिंग के वेश में थीं। उस वेश में उनका व्यक्तित्व मरदाना जान पड़ता था। उनके मुख पर कोमलता नहीं थी, किन्तु बच्चों से हँस-हँस कर जब दुलार से बातें करती थीं तब वृद्धशिशु जान पड़ती थीं।

श्री काशीनाथ पंढरीनाथ तैलंग (के. पी. तैलंग) के सम्पर्क में आने पर मुझे उनकी सहृदयता का परिचय मिला। उनके भारी डील डौल के भीतर बहुत कोमल हृदय था, जैसे भूधर के भीतर निर्झर।

चाँदनी की तरह साफ़ धोती-कुरता पहिने हुए छात्र अपनी सादगी

में कुन्द कुसुम की तरह भले लगते थे। उनकी सादगी में एक कला थी, एक शैली थी, एक संस्कृति थी।

थियासौफ़िकल का वातावरण मुझे उद्यान की तरह ही सुहावना लगता था। वहाँ नैसर्गिक उद्यान ही सामाजिक उद्यान भी बन गया था। उस उद्यान में जब मैं सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त छात्रों को स्वर्गिक शिशुओं की तरह हँसते-खेलते देखता तो सोचता, यदि यहाँ मेरे भी खाने-रहने-पढ़ने की सुविधा हो जाती तो कितना अच्छा होता! मैं भी किसी डाल के पंछी की तरह क्रीड़ा-कलरव करता।

काशी,
१६ जुलाई, १९५२

आत्मपरिणति

काशी,
८।७।५२

इधर मैं अनिकेतन जीवन बिता रहा था, उधर बहिन का गृह-जीवन अस्तव्यस्त हो गया था। सामाजिक असुविधाओं के कारण बार-बार उसे घर बदलना पड़ता, किन्तु कहीं भी स्वस्थ वातावरण नहीं मिलता था। जिस शुचिता और रुचिरता को लेकर वह जीवन में चल रही थी उसमें पग-पग पर बाधा पड़ रही थी। किन्तु अपनी मान्यताओं में उसे आस्था थी। जीवन में अकेली पड़ जाने के कारण उस पुरुपार्थ-वती में दैवी शक्ति आ गयी थी, इसी लिए बाधाओं में भी आत्म-विश्वास और अन्तर्विवेक से अपना मानसिक सन्तुलन बनाये रखती थी। कभी-कभी वातावरण से ऊब जाने पर देहात चली जाती थी, किन्तु क्या नगर और क्या देहात, समाज तो सर्वत्र विकृत होता जा रहा था। वह युग के वर्त्तमान अधःपतन का नेपथ्य-काल था। ऐसे समय में समाज से बहिन का सांस्कृतिक और कलात्मक संघर्ष आरम्भ हो गया था।

मैं अभी अनुभूति और अभिव्यक्ति की दृष्टि से सर्वथा अपरिपक्व था। जब बहिन से मिलता तब न उसकी भावना को ग्रहण कर पाता और न अपनी भावना को व्यक्त कर पाता। मेरे भीतर शैशव का वायव्य स्वप्न ही एक अस्पष्ट आदर्श के रूप में झिलमिला रहा था।

मुझे सुस्पष्ट पथ-प्रदर्शन और सामाजिक संवेदन की आवश्यकता थी। मैं भैय्या मणिशङ्कर पंड्या के पास आने-जाने लगा। भदैनी के छात्रावास के बाद वे कमच्छा पर निजी मकान में चले गये थे। मैं जब उनके पास जाता तब मेरे-जैसे आवारा को भी बड़ी आत्मीयता से अपना लेते। ध्यान से मेरी बातें सुनते, स्नेह से अपनी बातें कहते।

एक दिन उन्होंने कहा—दिन भर घूमने वाला यदि साँझ को किसी मन्दिर में दीपक जलाने का ही नियम बाँध ले तो अपने जीवन को सुव्यवस्थित कर सकता है।

वे चाहते थे कि मैं किसी काम में लग जाऊँ। किस काम में? मजदूरी कर नही सकता था, नौकरी हो नहीं सकती थी। अभी मेरे शरीर और मस्तिष्क के पनपने की आवश्यकता थी। खाने-खेलने और पढ़ने की मेरी उम्र थी।

थियासौफिकल के दूसरे दरवाजे पर उसी की बिल्डिंग में तारा यन्त्रालय था, जो अब भी है। भैय्या मणिशङ्कर ने कहा—क्यों, यह कैसा रहेगा कि कम्पोजीटरी सीख लो, साल-छः महीने में स्वावलम्बी हो जाओगे। तब तक के लिए तुम्हारे खाने-रहने का सब प्रबन्ध कर दिया जायगा।

भैय्या का मन रखने के लिए मैंने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। एक दिन प्रेस में गया भी, किन्तु दूसरे दिन से वहाँ जाने का उत्साह नहीं हुआ।

भूख-प्यास से बिकल रहते हुए भी केवल आर्थिक दृष्टि से ही मैं किसी काम में मन नहीं लगा सकता था, मुझे मानसिक स्वास्थ्य भी अभिप्रेत था। अपनी सीमा से स्पष्टतः परिचित न होते हुए भी मैं

नेति-नेति की तरह ही सांसारिक सीमाओं को भी अस्वीकार करते हुए चल रहा था।

मेरे स्वभाव में चाञ्चल्य नहीं था, परिस्थितियों ने मुझे समय के पहिले ही गम्भीर बना दिया था। चञ्चल और नटखट बनने का अवसर ही नहीं मिला। कश-मकश और खींच-तान से मेरे जीवन का व्यायाम नहीं हो सका। यदि हाईस्कूल तक पढ़ पाता तो शायद लड़कों की क्रीड़ा-कुशलता और लोकपटुता से मैं भी सुदक्ष हो जाता, सांसारिक दृष्टि से बुद्धू नहीं रह जाता। किन्तु संसार में कल के लड़के ही तो सयाने होकर अधिक होशियारी से दाव-पेंच खेलते हैं, उनसे भी तो मैं कुछ सीख सकता था। कहाँ सीख सका! अभाव और भावुकता ने बचपन से ही मेरा जो अतल-सजल स्वभाव बना दिया वही जीवन में स्थायी हो गया।

आर्थिक दृष्टि से किसी काम में मन न लगाने पर भी भैय्या मणिशङ्कर की सहानुभूति कम नहीं हुई। उनका सामाजिक सौहार्द्र मुझे बराबर मिलता रहा। उनका मृदुल स्वभाव, प्रेमल कण्ठ, शान्त सुन्दर स्फटिक स्वरूप किसी को भी आश्वस्त कर सकता था।

एक दिन उन्होंने परामर्श दिया—नियमित रूप से सन्ध्या किया करो। तीन बार नहीं तो एक बार अवश्य। इसके लिए यदि जरूरी काम भी छोड़ना पड़े तो छोड़ देना चाहिये।

उनका विश्वास था कि सन्ध्या करने से मनुष्य के सब सन्तापों का शमन हो जाता है।

स्वभावतः उन्हें धार्म्मिक और नैतिक पुस्तकों से अनुराग था। आदर्श की दृष्टि से वे मेरे ही वयोविकास थे। उन्होंने कुछ पुस्तकें मुझे भी पढ़ने के लिए दीं। वे पुस्तकें जेम्स एलन, स्वेट मार्सडन

और सेम्युअल इस्माइल्स की लिखी हुई थीं, हिन्दी में अनुवादित हो गयी थीं।

पाश्चात्य लेखकों की उन पुस्तकों से मुझे लौकिक जीवन का पथ-प्रदर्शन मिला। विचारों के एक उच्च वातावरण में मैं साँस लेने लगा। वे पुस्तकें किशोरों की अपेक्षा नवयुवकों के लिए अधिक उपयोगी थीं। फिर भी जैसे बचपन में माँ के दूध के अभाव में मैं अन्न से शरीर का पोषण करने लगा वैसे ही उन पुस्तकों के बौद्धिक विचारों से अपने मस्तिष्क का।

मैं तो काव्यप्रेमी था, भावना के भीतर से जीवन का स्पर्श चाहता था।

अपनी मनोवृत्ति का विश्लेषण करने पर ऐसा आभास मिलता है कि ऊपर से आरोपित ज्ञान मुझमें जम नहीं पाता था। स्वयंरुह की तरह मैं अपने भीतर से ही उगना चाहता था। मेरा अन्तःकरण अनुभूति में ही अङ्कुरित होता आया है, स्वाध्याय से उसे जल, वायु, खाद्य और प्रकाश मिलता रहा है। मुझ में एक नैसर्गिक प्राणोदन था।

शिशु घरौंधा बना कर अपनी जिस रचनात्मक प्रवृत्ति का परिचय देता है, उसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर मैं भी कुछ लिखने और नाम छपाने के लिए लालायित हो उठा। बड़ों की बड़ी बात अपनी लेखनी में उतारने के लिए अभी मुझमें क्षमता नहीं थी। वर्णमाला के अभ्यास की तरह मै कुछ हलकी-फुलकी पंक्तियाँ ही लिखने का अभ्यास करने लगा।

बाबू हरिदास माणिक ने मुझे 'स्त्रीदर्पण' की फ़ाइल दी थी। उसे पढ़ने से सामाजिक अध्ययन का अवसर मिला, किन्तु वह अध्ययन

बालदृगों के सार्वजनिक निरीक्षण की तरह था। मैं अभी सामाजिक दृष्टि से बालिग कहाँ हो सका था! उस समय 'स्त्रीदर्पण' की सम्पादिका थीं श्रीमती रामेश्वरी नेहरू और सुश्री रूपकुमारी बाँचू। उसमें कुछ सामग्री बच्चों के लिए भी रहती थी। किसी पुराने अंक में एक पद्य-बद्ध कहानी छपी थी। मैंने उसे गद्य में लिख कर फिर 'स्त्री-दर्पण' में ही छपने के लिए भेज दिया। वह छप गयी, लेखक थे श्री मुच्छन द्विवेदी। मासिक पत्र में पहिली बार अपना नाम देख कर मुझे नया उत्साह मिला। मैं लेखक बनने का प्रयत्न करने लगा।

'स्त्री-दर्पण' के बाद माणिकजी ने मुझे स्वामी रामतीर्थ की जीवनी दी। वे चाहते थे कि मैं उसे पढ़ कर उसके आधार पर एक छोटी-सी पुस्तक लिख कर उन्हें छापने के लिए दे दूँ। मुझमें अभी इतनी योग्यता कहाँ थी!

स्वामी राम के जीवन में एक भावात्मक अध्यात्म था। उसमें न तो साम्प्रदायिक जड़ता थी और न दार्शनिक शुष्कता। वह बड़ी सरलता से आत्मोन्मेष कर मनुष्य को उसकी अन्तःसंज्ञा से मिला देता था।

उनकी जीवनी पढ़ कर मेरी आत्मा का भी उद्घाटन हो गया। मुझे जान पड़ने लगा कि मैं एक व्यक्ति नहीं, अपने-आप में निखिल चेतन हूँ। भावना के भीतर से जिस जीवन को उपलब्ध करना चाहता था, वही स्वामी राम के आत्मदर्शन में मिल गया। शैशव का वायव्य स्वप्न सत्य हो गया।

•

बचपन में शिशु जिस सहज दृष्टि से सबको अपने में और अपने को सबमें देखता है वही बाल्यदृष्टि एक बार फिर मेरी अन्तर्दृष्टि बन

गयी। मुझे सारा संसार प्यारा जान पड़ने लगा। मैं सबसे ललक कर मिलता, सबमें अपने प्रभु को देखता—

"वह बालबोध था मेरा।
निराकार निर्लेप भाव में
भान हुआ जब तेरा।"

उस बालबोध, उस आत्मबोध में मेरे जीवन का केन्द्रीकरण हो गया। मृगशावक-सा दुबला-पतला शरीर बाहर डोल रहा था, किन्तु मन में मृग-मरीचिका नहीं रह गयी थी। नंगे बदन, नंगे पाँव, डेढ़ हाथ की लुंगी अपनी कमर में लपेटे जब यह बालयति इधर-उधर विचरण करता तब किसी परिव्राजक की प्रजा ही जान पड़ता।

आत्मा ने अपना अमृत पा लिया था, किन्तु शरीर आहार के अभाव में जीवन्मृत होता जा रहा था। क्षेत्र में भोजन करता था, किन्तु 'क्षेत्रे भोजन मठे निद्रा' के कौशल से अनभिज्ञ था।

मैं किसी ऐसे वरदान की खोज में रहने लगा जो आजीविका की दृष्टि से मुझे स्वावलम्बी बना दे। जिस किसी का नेक नाम सुनता उसी को अपना मसीहा समझने लगता।

सन् १६२२ के ग्रीष्मावकाश की बात है। आदरणीय पण्डित रामनारायण मिश्र काशी आये हुए थे। उन दिनों वे देवरिया के हाईस्कूल में प्रधान अध्यापक थे। बचपन से ही मैं उनके नाम से परिचित था। अपनी पाठ्यपुस्तक में उनके दो लेख पढ़ चुका था— (१) 'चूहेदानी', (२) 'ज्ञान के लिए बलिदान।' एक में बच्चों के लिए सदाचार का सुबोध पाठ था, दूसरे में तरुणों के लिए साहस का स्फूर्जन।

देहात से काशी आने पर उनसे मिलने की इच्छा बनी हुई थी। संयोग-वश एक दिन मैं उनके आवास पर जा पहुँचा।

मेरी बातें सुन कर उन्होंने कहा—रसोई बनाना सीख लीजिये तो अपने साथ ले चलूँ।

न रसोई बनाना सीख सका, न उनके साथ जा सका। किन्तु उनकी स्मृति मेरे नाम के साथ जुड़ गयी।

पण्डितजी ने कहा—आपका नया नामकरण होना चाहिये। मुच्छन नाम अच्छा नहीं है।

मुझे तो मुच्छन नाम तब भी अच्छा लगता था और आज भी अच्छा लगता है, उसमें मेरे शैशव का सारल्य और माँ-बहिनों का वात्सल्य है।

मैंने अपना कोई नवीन स्वरूप पाने की आशा से पण्डितजी से कहा—कृपया आप ही कोई नया नाम रख दीजिये।

कुछ सोच कर उन्होंने कहा—आपको शान्ति की आवश्यकता है, इसलिए आपका नाम शान्तिप्रिय होना चाहिये।

यह नाम आर्य्यसमाजी ढंग का जान पड़ता है। मैं आर्य्यसमाजी नहीं, वैष्णवकुमार हूँ। साहित्यिक क्षेत्र में आने पर न जाने अपना कैसा कवित्वपूर्ण नाम रखता। फिर भी इस नाम में मेरे जीवन का एक इतिहास है। स्वामी राम के अनुगामी का कुछ ऐसा ही नाम होना चाहिए था।......

मैंने नतमस्तक होकर आशीर्वाद के रूप में यह सात्त्विक नाम शिरोधार्य्य कर लिया।

काशी,
११ जुलाई, १९५२

९

आनन्द-परिवार

काशी,
१७ जुलाई, १९५२

आज एकादशी है, आस्तिक वैष्णव आज उपवास रखते है, अन्तःशुद्धि के लिए रासायनिक विकारो को शान्त करते है।

मेरा जीवन तो बिना एकादशी के ही बरबस एक व्रत बन गया था। अभी शैशव का शरीर मुकुलित भी नही हो सका था कि निरन्तर निराहार से इन्द्रियों का संयमन होने लगा।

वृद्धावस्था में जिस आहार-विहार से उपराम हो जाता है, वह किशोरावस्था मे मेरा अभाव बन गया। अपने अभाव की पूर्ति के लिए मैं चातक की तरह सबसे सहायता की आशा करता, किन्तु जहाँ बाहर आडम्बर और भीतर छूँछापन है वहाँ कौन किसका अभाव भर सकता है!

मेरा अभाव ही मुझे एकान्त से समाज में ले आया। उसी के कारण न जाने कितने लोगो से परिचय हुआ, न जाने कितनी दिशाओं का अनुभव हुआ।

अभाव मेरे लिए अभिशाप भी था और वरदान भी। अभिशाप इस लिए कि मुझे सुदृढ़ स्वास्थ्य नही मिल सका, वरदान इस लिए कि मैं ब्राह्मण ही बना रह गया।

यदि मेरे भीतर ब्राह्मण का संस्कार न होता तो अभाव मुझे न जाने किस कर्म्मक्षेत्र में ले जाता। स्कूल की नाममात्र की शिक्षा से तो संसार का काम चल नहीं सकता था। इस व्यावसायिक आर्थिक युग में न जाने मुझे किस अधःपतन का अनुचर बन जाना पड़ता। किन्तु, एक तो अपनी सुकोमल स्नायुओं के कारण मैं बचपन से भावुक था, दूसरे पिता की एकान्त-साधना और बहिन की गृह-साधना से प्रभावित था। स्वभावतः साहित्य-क्षेत्र में चला आया। जन्म का ब्राह्मणकुमार कर्मक्षेत्र में भी सरस्वतीकुमार हो गया।

संस्कार और स्वाध्याय को ही जीवन का सम्बल बना कर चला।

अब तक जो कुछ पढ़ा-समझा था उसी के आधार पर लेख लिखने लगा। काशी के इस तीर्थवासी को प्रारम्भ में तीर्थराज प्रयाग से साहित्यिक प्रोत्साहन मिला। 'स्त्री-दर्पण' के बाद 'विद्यार्थी' में मेरे लेख छपे, फिर लाहौर की 'नवज्योति' में, उसकी सम्पादिका थीं श्री विद्यावती सेठ। सन्' २३ के 'विद्यार्थी' (प्रयाग) और सन्' २६-३० की 'त्यागभूमि' (अजमेर) में छपे लेखों का संग्रह मेरी 'जीवन-यात्रा' नामक पुस्तक में देखा जा सकता है। उस समय कैसी मेरी भाषा थी, कैसा मेरा आदर्श !

उन दिनों लेखों पर पुरस्कार देने का नियम नहीं था। फिर मैंने तो अभी लिखना प्रारम्भ किया था, उसका छप जाना ही पर्य्याप्त था। प्रोत्साहन ही पुरस्कार था।

लेखन-कार्य्य स्वान्तःसुखाय था। आजीविका के लिए कोई निश्चित आधार न होते हुए भी वायुमण्डल में जिधर से भावना की गन्ध मिलती उधर ही जीवन पाने की आशा से चल देता।

एक दिन देशबन्धु चित्तरञ्जनदास की जीवनी हाथ में आ गयी।

लेखक थे मान्यवर श्री सम्पूर्णानन्दजी। सचित्र मुखपृष्ठ पर नीचे ये पंक्तियाँ छपी थीं—

माता के श्री श्री चरणों में तूने सर्वस्व निःसार किया।
सुखभोग तजा, संसार तजा, अपने को धन्य निःसार किया॥

इन पंक्तियों में मुझे कवि का हृदय मिला—भावुक, श्रद्धालु और उत्सर्गशील।

सम्पूर्णानन्द जी असहयोग-आन्दोलन के आरम्भ से ही सार्वजनिक क्षेत्र में अपना विशेष स्थान बना चुके थे। जितना ही मैं छोटा था, उतना ही बड़ा उनका नाम था। उनके नाम में साहित्यिकता और सात्त्विकता थी। नाम से ही प्रभावित होकर एक दिन मैं उनके मकान की ओर गया। सोचा, साधना का वह आवास मुझ-जैसों को ही अपना लेने के लिए है।

होली की साँझ थी। जब मैं वहाँ पहुँचा तो द्वार पर ही श्री परिपूर्णानन्द और सच्चिदानन्द (श्री सम्पूर्णानन्दजी के स्वर्गीय ज्येष्ठपुत्र) से भेंट हो गयी। हम सब बालक ही थे। बिना किसी सांसारिक परिचय के ही हम लोगों में हार्दिक हेल-मेल हो गया।

सम्पूर्णानन्दजी का वह मकान बहुत छोटा था, किन्तु उसकी आत्मा महान थी। किसी नन्हें शिशु के छोटे-से शरीर की तरह उस घरौंधे में सार्वजनिक क्षेत्र के सभी सहयोगियों का समागम होता रहता, विन्दु में सिन्धु की तरह वह लघु नीड़ सबके सामाजिक सम्मिलन का विश्वकुटुम्ब बन जाता था।

उन दिनों वहाँ ब्रह्मचारी प्रभुदत्त भी आया करते थे। वयस्क होते

हुए भी वे बच्चों में इस तरह हिल मिल गये थे कि एक सयाने सखा जान पड़ते थे।

वहीं पहिली बार दिवङ्गत क्रान्तिकारी चन्द्रशेखर 'आज़ाद' से भेंट हुई। वे भी हम लोगों के हमजोली हो गये। उन्हें किसी राजनीतिक अपराध पर पचीस बेंत की सजा हुई थी। प्रत्येक प्रहार पर बड़े उत्साह से उन्होंने महात्मा गान्धी की जय कहा था। उस समय उनकी उम्र बारह बरस की थी। जिस साहस और दृढ़ता से उन्होंने बेंतों का प्रहार सहा उसके लिए चारों ओर उनकी सराहना होने लगी थी। मैंने भी उनकी प्रशंसा में एक तुकबन्दी लिखी थी, जिसकी दो पंक्तियाँ ही याद हैं—

देश-नौका बह रही थी जिस समय मँझधार में।
आज़ाद बारह वर्ष का लड़का रहा संसार में॥

भोजन के लिए एक दिन 'आज़ाद' मुझे अपने निवास-स्थान पर ले गये। वे ज्ञानवापी के पीछे, विश्वनाथ गली में, संस्कृत-छात्रावास में रहते थे। संस्कृत पढ़ने के लिए ही काशी आये थे। संस्कृत के विद्यार्थियों के पढ़ने-रहने-खाने के लिए जो स्वल्प साधन था, उसी में उन्होंने मेरा भी आतिथ्य किया।

कुछ दिनों बाद वे काशी विद्यापीठ में चले गये। वहाँ के वातावरण में खप नहीं सके। गान्धीजी की अहिंसा का विरोध करने लगे, नेताओं का मख़ौल उड़ाने लगे। लोग उन्हें उजड्ड और बेअदब कहने लगे।

मेरे ऊपर 'आज़ाद' का बहुत ममत्त्व था। राह-चलते यदि कभी मिल जाते तो सड़क पर ही खड़े-खड़े घण्टों बातें करते। बड़े स्नेह से

मुझे 'मुच्छनजी' कहते। दुनिया के लिए कठोर हो गये थे, किन्तु अपने मुच्छन जी के लिए बहुत कोमल थे। एक दिन कन्धों पर हाथ रख कर बोले—देखो जी, ये देशी और विदेशी शोषक, ये सभ्यता और संस्कृति के स्वार्थ-लोलुप पृष्ठपोषक, तुम लोगों को ऊपर नहीं उठने देना चाहते। इन ढोंगियों और पाखंडियों को मिटा कर ही मैं दम लूँगा, तुम-जैसों को नवजीवन दूँगा। कभी निराश मत होना, धैर्य्य रखना।

उस समय उनकी बातें मुझे बड़ी अजीब जान पड़ती थीं। अचानक एक दिन राजनीतिक अशान्ति के वात्याचक्र में मेरे ही साथ सारे संसार ने उनका नया नाम सुना—'बलराज।'

... ...

किसी सुव्यवस्थित गृहस्थ के पारिवारिक आँगन में एक पौधे की तरह रुप कर मैं अपने अविकच जीवन को पल्लवित करना चाहता था। शिशु-हृदय सच्चिदानन्द ने कहा—दद्दू को पत्र लिखो न।

मैंने आदरणीय सम्पूर्णानन्दजी को अपनी नवोद्भूत भाषा में एक वृहत् पत्र लिखा। आज की तरह ही उस समय भी वे बहुत व्यस्त रहते थे। वस्तुतः उन्हें पत्र लिखना ही नहीं चाहिए था। घर-गृहस्थी से अवकाश लेकर वे तो वलिपन्थी हो चुके थे। गृहस्थी का भार पृथ्वी की तरह ही वन्दनीया उनकी पूजनीया माताजी पर था। यह माता उसी भारत माता की मानवी आत्मा थीं जिसके चरणों में अपने आपको अर्पित कर कवि निःस्व हो गया था।

माताजी ने अग-जग से अनजान इस उत्साही बालक को भी अपना एक पारिवारिक प्राणी बना लिया। सच कहूँ, उन्होंने मुझे

अपने सब लड़कों से अधिक माना-जाना। उन्हीं के स्नेह-वत्सल अञ्चल की छाया में हम बालकों का जीवन रिलमिल कर एक हो गया।

मेरे लेखन-कार्य्य से भाई परिपूर्णानन्दजी को भी लिखने का उत्साह हुआ। उन दिनों वे काशी विद्यापीठ में पढ़ते थे। थोड़े समय तक मैं भी वहाँ का नाममात्र का छात्र था।

परिपूर्णानन्दजी ने एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकाला—'प्रवाह'। उसके आवरणपृष्ठ को वे बड़ी सुरुचि से सुचित्रित करते थे और मैं पाठ्यसामग्रियों की सुन्दर प्रतिलिपि करता था। कभी-कभी उसमें लेख भी लिखता था। एक लेख का शीर्षक था—'देश की प्रगति।' तब तक 'प्रगति'-शब्द साहित्य में प्रचलित नहीं हुआ था।

प्रधान सम्पादक के नीचे सहायक सम्पादक को दब कर रहना पड़ता है, किन्तु स्वतन्त्रचेता मस्तिष्क दबा नहीं रह सकता। मैं था सहायक सम्पादक। साहित्यिक और दैनिक प्रसङ्गों में परिपूर्णानन्दजी से प्रायः मनोरञ्जक द्वन्द्व हो जाया करता था। उनके अग्रज और हिन्दी-साहित्य के सिद्धहस्त हास्यलेखक बाबू अन्नपूर्णानन्दजी मन ही मन मुस्कराते हुए दूर से यह बाल्य-चापल्य देखा करते और कभी-कभी पद्य में चुटकियाँ भी लेते रहते। उनकी सहानुभूति मेरी ओर थी।

'प्रवाह' के कई अङ्क एक-से-एक अच्छे निकले। बचपन के अनेक खेलों में वह भी एक साहित्यिक खेल था। काल-प्रवाह में बह कर 'प्रवाह' न जाने कहाँ खो गया, जीवन का प्रवाह भी कहाँ से कहाँ बह गया!

काशी,
२६ जुलाई, १९५२

आकांक्षा के पथ पर

काशी,
२६ जुलाई, १९५२

'स्त्री-दर्पण' में लेख लिखते-लिखते मुझे भी उसमें काम करने की इच्छा हुई। भूख-प्यास से परिचित होते हुए भी तब तक वास्तविकता का अनुभव नहीं था। बचपन की भावमयी भोली आँखों को चारों ओर का द्वार खुला जान पड़ता था।

समाज में स्त्री-पुरुष का पार्थक्य था, नारी के व्यक्तित्व की सुषमा सार्वजनिक क्षेत्र में नहीं मिलती थी। साहित्य-क्षेत्र में उस व्यक्तित्व की कोमलता पाने की आशा से सन्' २३ में 'स्त्री-दर्पण' में पहुँच गया।

'स्त्री-दर्पण' का कार्यालय इलाहाबाद से कानपुर चला गया था। अब उसके सम्पादक थे परशुराम मेहरोत्रा और सुमति देवी बी० ए०। देवीजी नाममात्र की सम्पादिका थीं। शहर से बाहर किसी होस्टल में अपने पति के साथ रहती थीं। साहित्यिक विदुषी थीं।

उन दिनों असहयोग-आन्दोलन से अनुप्राणित होकर राष्ट्रीय क्षेत्र में तो महिलाएँ आ गयी थीं, किन्तु साहित्य-क्षेत्र में अभी उन्होंने अपना स्थान नहीं बना पाया था। लोग उनका नाम छाप कर अपने प्रकाशन का महत्त्व बढ़ाते थे।

स्त्रियोपयोगी मासिक पत्र का कार्य्यालय जैसा ललित-कलित होना चाहिये था वैसा वातावरण नहीं मिला। सँकरी सड़क पर फीलखाना में बाजारू दूकान-जैसी एक कोठरी में 'स्त्री-दर्पण' का कार्य्यालय था। वहाँ दिन में भी अँधेरा रहता था। उस क़ब्रगाह में हृदय हर्षित नहीं हो सका।

'स्त्री-दर्पण' छोड़ कर मैं फिर हवा में उड़ने लगा। कानपुर के नवयुवक कवियों (सर्वश्री वालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन', मदन मोहन मिहिर, भगवतीचरण वर्म्मा) से परिचय हुआ।

नवीनजी उस समय 'प्रभा' के प्रतिभाशाली सम्पादक थे। उनका कवि-हृदय बहुत ही प्रेमल था। प्रथम परिचय में ही मैं उनका भ्रातृत्त्व पा गया।

मिहिरजी रईस खानदान के बड़े सुन्दर नौजवान थे। कन्दर्पकुमार थे। वैभव के विलास में भी उन्होंने कवि का हृदय पाया था। उन दिनों रवि बाबू की 'गीताञ्जलि' का वे अविकल अनुवाद कर रहे थे। 'प्रभा' में प्रतिमास प्रथम पृष्ठ पर वह अनुवाद प्रकाशित होता था। भाषा, भाव और छन्द की दृष्टि से 'गीताञ्जलि' का वैसा सङ्गीतपूर्ण सरस अनुवाद देखने में नहीं आया।

कानपुर की सड़कों पर जिस समय मिहिरजी और नवीनजी एक साथ चलते थे, उस समय इन बाँके जवानों की ओर लोग देखते ही रह जाते थे। दोनों में इतना रूप-साम्य था कि जुड़वाँ सहोदर जान पड़ते थे।

भगवतीचरण वर्म्मा शायद उस समय कालेज में पढ़ते थे। उनका जीवन बड़ा तूफ़ानी जान पड़ता था।

कानपुर के सार्वजनिक जीवन के शिरोमणि आदरणीय गणेश शङ्कर

विद्यार्थी थे। कितने ही तरुणों को उनके चरणों में शरण मिलती थी, वे उनके भाग्यविधाता थे। एक दिन मैं भी उनसे मिला। विद्यार्थी जी ने कहा—आप क्या चाहते हैं, अपने मन में स्थिर कर लीजिये तो उसी के अनुसार व्यवस्था कर दी जाय।

मैं क्या चाहता था, स्वयं नहीं जानता था। जीवन का कोई उद्देश्य ही निश्चित नहीं कर सका था, साहित्य-क्षेत्र में सरिता की हिलोरों की तरह यों ही इधर-उधर हिलकोरें ले रहा था। निरुद्देश्य प्रवाह में बहता-बहता मैं फिर काशी चला आया।

काशी,
२८ जुलाई, १९५२

रोमैन्टिक अनुभूति

काशी,
२८ जुलाई, १९५२

एक दिन ज्ञानमण्डल में बैठा हुआ 'स्वदेश' के होली-अङ्क में कहानी पढ़ रहा था। कहानी के पात्र सब देहाती थे। ऐसा जान पड़ा कि मैं पढ़ नहीं रहा हूँ, प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। वह इतनी स्वाभाविक जान पड़ी कि उत्सुकता से लेखक के नाम पर दृष्टि चली गयी। यह किसकी क़लम की करामात थी! वे थे प्रेमचन्द। उनके नाम से उसी कहानी से पहिली बार परिचित हुआ। अगल-बगल के लोगों को जब वह कहानी दिखला कर मैंने उसकी प्रशंसा की तो मालूम हुआ कि प्रेमचन्दजी यहीं ज्ञानमण्डल में ऊपर काम करते हैं। अभी वे सीढ़ियों से नीचे उतरते दिखाई देंगे। सचमुच? क्या मैं इतना भाग्यशाली हूँ कि जिस सृष्टि को कहानी में देखा है उसके स्रष्टा को भी देख सकूँगा!

थोड़ी देर बाद सीढ़ियों से उतरते हुए एक व्यक्ति की ओर सङ्केत कर किसी ने कहा, यही प्रेमचन्द हैं। सीधा-सादा पहनावा, सीधी-सादी चाल-ढाल! जान पड़ता था कि कोई देहाती मुन्शी नगर में आ गया है। अरे, क्या यही प्रेमचन्द हैं! जब किसी की रचना पढ़ता था तब सोचता था, रचयिता अपनी वेश-भूषा और रहन-सहन में कोई असाधारण व्यक्ति होगा। किन्तु प्रेमचन्द में ऐसा कुछ नहीं मिला।

वे अपने ग्रामीण पात्रों की तरह ही सहज स्वाभाविक सामाजिक मनुष्य थे।

उन दिनों इलाहाबाद की 'मर्य्यादा' ज्ञानमण्डल (बनारस) से प्रकाशित होती थी। सम्पूर्णानन्दजी के साथ प्रेमचन्दजी भी उसके सम्पादक थे। इसीलिए उस दिन उनका आकस्मिक साक्षात् हो गया।

बनारस जब प्रेमचन्दजी का कार्य्यक्षेत्र बन गया तब मुझे भी उनके निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। उनमें शैशव का सारल्य था, हृदय उनका सुच्चा था। बड़प्पन का अभाव था। पतंग कट जाने पर लड़कों को ललकार देते थे, खुद भी दौड़ पड़ते थे। कम्पनी बाग़ के दरवाजे पर ईंट पर बैठ कर संगी-साथियों के साथ बड़ी बेतकल्लुफ़ी से चाट खाते थे।

सबकी जरूरत को अपनी ही जरूरत समझते थे। धनवान न होते हुए भी सहायता के लिए अपना हाथ खुला रखते थे।

मूँज की निखहरी चारपाई पर बिना कुछ बिछाये ही बैठ कर लिखने-पढ़ने का काम करते थे। कागज-पत्तर रखने की छोटी सन्दूक ही उनका डेक्स बन जाती थी।

कान से कम सुनते थे। किन्तु बहिरेपन को अपनी हँसी के ठहाके में छिपा देते थे। एक दिन मैंने कहा—आप मुझसे भी कम सुनते हैं। वे बोले—नहीं, तुम्हीं कम सुनते हो! असलियत यह थी कि उनकी रचनाओं की तरह ही उनके बहिरेपन में भी एक सधी हुई कला थी, किन्तु मैं अभी कला से एकदम कोरा था।

यों तो उनके स्वभाव में नोक-झोंक नहीं थी, किन्तु वाद-विवाद में बच्चों की तरह रीझ-खीझ उठते थे।

उर्दू से हिन्दी में आये थे, कुछ जन्मना वर्ण-संस्कार भी उनमें था, इसलिए मुस्लिम तहजीब को तरजीह देते थे। हिन्दू रस्म-रिवाजों और सगुण उपासना को नहीं मानते थे। फिर भी चित्रकार की तरह उन्होंने समाज को उसी के अविकल रूप में चित्रित किया है। राष्ट्रीय उपन्यास-कार होते हुए भी उनके जीवन में राजनीति नहीं थी। 'गोदान' में उन्होंने अब तक के समाज और राजनीति का खोखलापन दिखला दिया है। व्यक्तिगत रूप से वे 'होरी' की तरह ही निराश और निःसहाय थे, प्रायः मायूसी की बातें करते थे, किन्तु एक प्रतिनिधि-कलाकार की हैसियत से नवयुवकों को उत्साह देते रहते थे।

... ...

कानपुर से बनारस आने पर मैं फिर आजीविका का आधार खोजने लगा। एक दिन प्रेमचन्दजी से मिलने के लिए उनके गाँव पर गया। उन्होंने कहा—तुम 'माधुरी' में जाओ, मैं पत्र लिखे देता हूँ।

'माधुरी' लखनऊ से बड़ी आन-बान-शान से निकल रही थी। सम्पादक थे श्री दुलारे लाल भार्गव और पण्डित रूपनारायण पाण्डेय। उसमें सभी उच्चकोटि के लेखकों और कवियों की रचनाएँ प्रकाशित होती थीं। ऐसी श्रेष्ठ पत्रिका में भला मेरा क्या उपयोग हो सकता था! किन्तु प्रेमचन्दजी तो अपने देहाती पात्रों की तरह लघुत्तम को ही महत्तम बना देते थे। उन्होंने भार्गवजी के नाम जो प्रशंसा-पत्र लिख कर दिया उसमें इस रंगरूट को बहुत बड़ा लेखक बना दिया था। यह उनका आशीर्वाद था। वह पत्र आज भी लखनऊ में उनके एक भक्त के पास है।

प्रेमचन्दजी ने पत्र अंग्रेजी में लिखा था। यह क्यों? मैं अंग्रेजी नहीं जानता था। शायद अंग्रेजी को वे मुझ पर निछावर कर देना चाहते थे।

... ...

सन् १९२४ ।

'माधुरी' के सम्पादकीय विभाग में मुझे क्लर्क का काम मिला। 'मतवाला' छोड़ कर बाबू शिवपूजन सहाय भी 'माधुरी' में आ गये थे। मैं उन्हीं के साथ रहने लगा। कुछ दिनों बाद पण्डित कृष्ण विहारी मिश्र भी 'माधुरी'-मण्डल में सम्मिलित हो गये।

'माधुरी' के यों तो कई सम्पादक थे, किन्तु उसके प्राणसखा बाबू शिवपूजन सहाय ही थे। उनकी चितचोर लेखनी में किसी चितेरे की तूलिका की जादूगरी थी। 'माधुरी' के लेखों का संशोधन वे ही करते थे। उनकी लेखनी का स्पर्श पाकर निर्जीव रचना भी सजीव हो उठती थी। भाषा का रुख-मुख, रूप-रंग, सब कुछ वे एक कुशल शिल्पी की तरह सँवार और निखार देते थे। यथावकाश गङ्गा-पुस्तक-माला का भी काम करते थे। उन दिनों प्रेमचन्द जी की 'रङ्गभूमि' छपने के लिए आयी थी। शिवपूजनजी ही उसे रिवाइज़ कर रहे थे। 'रंगभूमि' की भाषा में उनकी तूलिका का भी रंग है।

महीने के अन्त में जब 'माधुरी' प्रकाशित होती तब शिवजी अमीनाबाद पार्क में उठँग कर उसे पढ़ा करते, अपनी थकान मिटाते। मैंने कहा—आप ही तो इसके कर्त्ता-धर्त्ता हैं, फिर इसे क्यों पढ़ते हैं? वे बोले—क्या रसोई बनानेवाला अपने व्यञ्जन को स्वयं नहीं चखता!

वे प्रायः रोज ही अपनी हजामत अपने हाथ बनाया करते थे। मैंने कहा—यह रोज-रोज घास छीलने क्यों बैठ जाते हैं! उन्होंने कहा—अभी तो तुम्हें रेख भी नहीं आयी है, जब आयेगी तब मालूम पड़ेगा।

'माधुरी' के नाम में तो मधुरता थी, किन्तु उसके कार्य्यालय में क्लर्कों को प्रतिदिन कटुता का अनुभव करना पड़ता था। भार्गवजी

जब आफ़िस आते तब किसी न किसी बात को लेकर झुँझला उठते, दाँत किटकिटा कर मुट्ठी बाँध कर हवा में हाथों को हिलाने लगते। उस समय मैं उनके स्वभाव की मनोवैज्ञानिक गहराई में नहीं पैठ सका था। वे अपने माता पिता के पहलौटे दुलारे बेटे थे। जान पड़ता है, बड़े लाड़-प्यार से पले थे, उनकी आन कभी टूटने नहीं पायी थी। सयाने हो जाने पर भी वही बान उनमें बनी रह गयी।

बात-बात में उनकी शान भड़क उठती थी। राजा-रईसों की तरह ही उनके स्वभाव में शासन की कठोरता थी। यह तो मैंने कई वर्षों बाद जाना कि भीतर से वे बड़े सरल और संवेदनशील सद्गृहस्थ हैं। साहित्य-जगत में शायद ही कोई ऐसा कवि और लेखक होगा जिसे उनका सहयोग न मिला हो।

...रोष में भी वे आशुतोष थे। जिस पर बिगड़ते उसका भी भला चाहते। उनमें पारिवारिक ममता थी। उनका क्रोध आत्मीयता का ही विशेषाधिकार था। जिसकी कल्पना ने 'माधुरी'-जैसी पत्रिका को जन्म दिया वह हृदयहीन कैसे हो सकता था!......

किन्तु स्कूल छोड़ने के बाद मुझसे किसी तरह का शासन सहा नहीं जाता था। प्रतिदिन एक आतङ्कपूर्ण वातावरण में सहमे और सकपकाये रहना बरदाश्त नहीं कर सका। एक दिन भार्गवजी के बिगड़ते ही मैं भी बिगड़ पड़ा। मैंने कहा—मुझे नहीं करनी है यह नौकरी!

चल दिया कार्य्यालय से।

•

मिश्रजी की सहानुभूति मेरे साथ थी। उन दिनों वे गङ्गा-पुस्तक-माला के लिए 'मतिराम-ग्रन्थावली' का सम्पादन कर रहे थे।

भार्गवजी से कह कर उन्होंने मुझे उसी की प्रतिलिपि करने का काम दे दिया। उनका घर ही मेरा कार्य्यालय बन गया। मिश्रजी के साहचर्य्य में मुझे उनके काव्य-सरस स्वभाव का स्नेह-सिञ्चन मिला।

लखनऊ के उस प्रवास में पण्डित कृष्णविहारी मिश्र और बाबू शिवपूजन सहाय का साहित्यिक सत्संग एक सौभाग्यपूर्ण संयोग था। मैं उन्हीं लोगों के सौहार्द के संरक्षण में अपनी भावना के संसार में किसी सुखी राजकुमार की तरह स्वच्छन्द विहार करता रहता था।

एक दिन अमीनाबाद के चौराहे पर घूमते हुए अचानक 'मतवाला' पर दृष्टि चली गयी। उसके रंगीन कलेवर ने मेरी आँखों को लुभा लिया। कुतूहल-वश जब मैंने एक प्रति ले ली तब मुखपृष्ठ पर निरालाजी की 'दिल्ली' शीर्षक कविता मिली—

क्या यह वही देश है ?
सन्ध्या की स्वर्ण वर्ण किरणों में
दिग्वधू अलस हाथों से
भरती थी प्रेम की मदिरा जहाँ,—
पीती थीं नारियाँ वे
बैठी झरोखे में उन्नत प्रासाद के !

इन पंक्तियों के पढ़ते ही मेरे भीतर भी वही मादक अतीत कुहुक उठा।

निरालाजी की कविता के लिए मैं बराबर 'मतवाला' पढ़ने लगा। भाषा, भाव और छन्द से अनभिज्ञ होते हुए भी ध्वनि और लय से ही उनकी रचनाओं का मर्म्म स्पर्श करने लगा।

मैं समझता था, निरालाजी की काव्यशैली सबसे सध नहीं सकती,

किन्तु एक दिन सेन्टपाल्स कालेज (कलकत्ता) के छात्र विजयकुमार शर्म्मा की कविता भी उसी शैली में नयी टेढ़ी-मेढ़ी टहनी की तरह सामने आ गयी—

आघात
ऐ निर्दय आघात
मुझ पर
मुझ निष्ठुर नीरस पर
अहे वेदनामय संसृति के मृदु आश्वासन !
रुष्ट हुए तुम मुझसे
अपने व्यथित अभिन्न हृदय से
यह क्यों ?
मुझे याद आती है वह रात्रि
स्तब्ध अब्द की रात्रि
तुम्हें लिखा था पत्र
बिदाई का वह अन्तिम पत्र
सोचा था कुछ और
पाया बस आघात ।

इन अटपटी पंक्तियों के नाटकीय उद्गार से मेरा किशोर हृदय फड़क उठा ।

साहित्य अब मुझे काव्य की कला-भङ्गिमा से आकर्षित करने लगा । मैं भी अभिव्यक्ति के लिए लालायित हो उठा ।

मुक्त छन्द मुझे अपने ही जीवन के प्रवाह-जैसा जान पड़ा । बचपन में डाल-डाल पर डोलता रहा, साक्षर होते ही स्कूल छोड़ दिया, आजीविका के लिए किसी सांसारिक बन्धन से बँध नहीं सका, क्या मेरा स्वभाव रोमैन्टिक था !......

यह लो, मैं भी कवि हो गया! मुक्त छन्द में कविता लिखने लगा। निरालाजी से पत्र-व्यवहार हुआ। उन्होंने अपने मुक्त छन्द की लोकप्रियता बढ़ाने के लिए मेरी अविकच रचनाओं को भी अपना लिया, 'मतवाला' में छाप दिया। मेरा उत्साह उमड़ पड़ा।

आरम्भ में मैंने मुक्त छन्द की गति और लय को ही साधने का प्रयत्न किया। नाटकीय शैली में सांकेतिक व्यञ्जना करने लगा। भाषा और भाव की साधना के अभाव में अभिव्यक्ति और अनुभूति सुस्पष्ट नहीं हो सकी।

अब तक मेरा बौद्धिक अध्ययन दूसरों के विचारों पर ही अवलम्बित था, अब भावना की दिशा में अस्पष्टता के भीतर से ही मैं अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति का स्वावलम्बन ग्रहण करने लगा।

सन् १९२४ हमारे साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण वर्ष है। उसी वर्ष हिन्दी के गद्य और पद्य में छायावाद का रसोत्कर्ष हुआ। एक ओर 'मतवाला' में निरालाजी की कविता धारावाहिक रूप से छप रही थी, दूसरी ओर 'सरस्वती' में पन्तजी की भी कविता नियमित रूप से छपने लगी। सबसे पहिले निरालाजी ने ही 'मतवाला' में लेख लिख कर पन्तजी की काव्यप्रतिभा का स्वागत और अभिनन्दन किया।

पन्तजी की कविताएँ भी मैं बड़े चाव से पढ़ने लगा—'नक्षत्र', 'मौन निमन्त्रण।' बचपन की पहिचानी हुई प्रकृति ही पन्त की कविताओं में मुझे फिर मिल गयी। अब वह रहस्यमयी जान पड़ने लगी। उसके सङ्गीत में स्वर्गिक सम्मोहन था। बचपन में क्रिश्चियन कुमारियों के सङ्गीत को न समझ पाने पर भी स्वर के माधुर्य्य से भीतर ही भीतर जिस तरह हृदय रस-स्निग्ध हो उठता था उसी तरह पन्त की कविताओं से भी।

पन्त की कविता अतीन्द्रिय थी, वह आत्मा ही आत्मा थी। मानसी भावनाएँ मानवी वृत्तियों में व्यक्त हो रही थीं। उस सूक्ष्मता तक पहुँचने के लिए मुझे कुछ अभ्यास की आवश्यकता थी। निरालाजी की कविता से मैं यही अभ्यास कर रहा था। उसमें मुझे भावना के लिए सामाजिक धरातल और छन्द के लिए गद्य का आधार मिला।

मुक्त छन्द के लिए गति और लय (पद-प्रवाह) की साधना करनी पड़ती थी, किन्तु पन्त के छन्दों के लिए गृह-मर्य्यादा की तरह स्वभाव की भी। मेरे भीतर बहिन की साधना का अज्ञात संस्कार होते हुए भी मेरा स्वभाव अभी छन्दोबद्ध नहीं हो सका था। मैं गद्य के माध्यम से ही गीतकाव्य का अभ्यास करने लगा।

निरालाजी की कविता के बाद मुझे राय कृष्णदास की 'साधना' मिली। देहात में सौन्दर्य्य की उपासना करते समय मैं जिस अनुराग से परिचित हो चुका था उसी का रागोत्कर्ष 'साधना' में था। उससे प्रभावित होकर मैं भी गद्यकाव्य लिखने लगा। मेरा एक गद्यकाव्य 'प्रभा' में स्वीकृत हो गया।

अब तक मैं नैतिक निबन्ध ही लिखता था। आदर्श के बाद कला-जगत में आकर साहित्यिक लेख भी लिखने की प्रवृत्ति हुई। 'स्त्री-दर्पण' में बहुत पहिले मैं एक लेख हिन्दी के कहानी-साहित्य पर लिख चुका था। वह मेरा बाल-प्रयास था। अब मुझमें किशोरावस्था की स्फूर्त्ति आ गयी थी। लघुवय में ही न जाने किस गुरुता के आसन पर बैठ कर मैंने फिर एक लेख लिख डाला—'समालोचना का महत्त्व।' वह प्रयाग की 'मनोरमा' में छप गया।

कविता और समालोचना,—क्या इसी में मेरा साहित्यिक भविष्य था!……

एक दिन एक छोटा-सा मनीआर्डर आ पहुँचा। वह 'विद्यार्थी' में छपे मेरे लेखों का पुरस्कार था। प्रवास में रहते हुए भी मुझे बहिन के सुख-दुःख का ध्यान था। वही मेरी तीर्थङ्करी थी। उसी की सेवा में पुरस्कार भेज दिया। बहिन ने उस पत्रम्-पुष्पम् को स्वीकार कर मेरे लेखन-कार्य्य को कृतार्थ कर दिया।

... ...

लखनऊ की वह यात्रा कई कारणों से मेरे लिए क्रान्तिकारिणी हो गयी। मुझे नया साहित्यिक और सामाजिक अनुभव हुआ।

एक दिन अमीनाबाद पार्क में शिवपूजनजी के साथ घूम रहा था। सँझबाती के समय उन्होंने कहा—चलिये, रामायण का पारायण किया जाय।

तब तक मैं रामायण को धार्म्मिक ग्रन्थ ही समझता था। देहात के चौपालों में ढोल-मँजीरों के ताल पर रामायण का सामूहिक पाठ कई बार सुन चुका था, किन्तु मुझे वह गँवारू जान पड़ता था। धार्म्मिक आस्था में भी मैं काव्यात्मक आकर्षण चाहता था। श्रद्धालु हृदय शिवपूजनजी के साथ मुझे रामायण का साहित्यिक रसास्वादन मिल सकता था, किन्तु मनोरञ्जन के लिए मैं पार्क में ही रह गया, वे चले गये।

एकाएक क्या देखता हूँ कि सामने की शीशे की दूकान पर कोई हवा के सर्राटे की तरह आकर अपनी लाठी से तड़ातड़ कुछ तोड़-फोड़ कर उसी तेजी से चला गया। इसके बाद इधर-उधर लूटपाट होने लगी। दूकानें धाँय-धाँय जलने लगीं। मैं चकित होकर सोचने लगा—यह कोई तमाशा है या बलवा!

वह हिन्दू-मुस्लिम दंगे का हंगामा था। तब तक मैंने हिन्दू-

मुस्लिम दंगे का नाम भी नहीं सुना था। लोगों को भागते देख कर मैं भी भाग खड़ा हुआ।

चौराहे पर पहुँच कर पुलिस से कहा—रक्षा करो। पुलिस ने सूखा जवाब दे दिया।

मैं इधर-उधर आश्रय खोजने लगा। लेकिन जान पड़ता है कि तूफ़ान आने के पहिले ही सजग पक्षी की तरह सब लोग अपने-अपने घरों में छिप गये थे। रास्ते में तीन-चार मसजिदें पड़ती थीं। मैं अपने ही में गुम सुम आगे बढ़ता चला गया। गणेशगंज पहुँच कर मिश्रबन्धुओं के यहाँ आश्रय लिया।

लखनऊ की गलियों में जब मैं आत्मरक्षा के लिए भटक रहा था तब हाथ में छूरा, गँड़ासा, तलवार, कटारी लिये हुए एक-से-एक खूँख्वार मुसलमान कराल काल की तरह दौड़े चले आ रहे थे। मेरा भोलापन देखिये, मैं उन्हीं से कहता था—हिन्दू हूँ, मुसलमान उपद्रव मचा रहे हैं, बताइये किधर जाऊँ?

किसी ने मेरे ऊपर कोई आघात नहीं किया। सबने प्यार से पुचकार कर मुझे भाग जाने के लिए रास्ता दे दिया।

मैं समझ गया कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। किसी आदिम बर्बर युग में जब मनुष्य मनुष्य को मार कर खा जाता था तब किसी की माँ, किसी की बहिन, किसी का भाई, किसी का लड़का, किसी का बाप सदा के लिए बिछुड़ जाता रहा होगा। पारस्परिक वेदना से संवेदनशील होकर मनुष्य ने समझौता किया, उसने समाज बनाया, परिवार बसाया। हिन्दू हो या मुसलमान, वह भी तो सामाजिक प्राणी है। अपने पारिवारिक सम्बन्धों में माया-ममता, स्नेह-

सहृदयता से शून्य नहीं है। मुझे सलीम की माँ याद आती है। क्या वह मेरी भी माँ नहीं थी ?

क्या सचमुच हिन्दू-मुसलमान आपस में लड़ते हैं ? क्या वे एक ही समाज के पड़ोसी नहीं हैं ? जान पड़ता है, आदिम बर्बर युग की शेष शक्तियाँ ही उन्हें कुरेद-कुरेद कर लड़ने के लिए बरबस उत्तेजित कर देती हैं।

दूसरे दिन लखनऊ का दंगा बहुत भयानक हो गया। गोरी पल्टन गश्त लगा रही थी, किन्तु वह धर-पकड़ का केवल अभिनय कर रही थी, पनाह माँगने पर गालियाँ देती थी।

हम लोगों की आयु की रेखा अभी चुक नहीं गयी थी। किसी तरह उस दंगे से बँच कर मै काशी चल पड़ा, भाई शिवपूजन सहाय कलकत्ते चले गये।

ट्रेन में बैठ जाने पर भी मेरी दहशत दूर नहीं हुई। बहिन के चरणों में पहुँच कर ही मै अभय हो सका।

काशी,
तिलक-दिवस,
१ अगस्त, १९५२

मानसिक स्थिति

काशी,
४ अगस्त, १९५२

काशी आकर मैं काव्य-साधना करने लगा।

उधर कलकत्ते के दो किशोर कवियों की कविताएँ 'मतवाला' में निकलती रहती थीं। विजयकुमार शर्म्मा मुक्त छन्द में और पद्मा-दत्त त्रिपाठी पन्त-छन्द में कविता लिख रहे थे। उन लोगों की तुलना में अपनी कविता फीकी लगती थी। मुझे निरालाजी की रचनाओं के अतिरिक्त अन्य काव्य-साहित्य सुलभ नहीं था। अंग्रेजी और बँगला से अनभिज्ञ था। विजय और पद्मा बङ्गाल के साहित्यिक वातावरण में दोनों भाषाओं से लाभ उठा रहे थे, साथ ही निरालाजी के सान्निध्य में निर्देशन और प्रोत्साहन प्राप्त कर रहे थे। मैंने निरालाजी को लिखा कि उन लोगों जैसी कविता मैं नहीं लिख पा रहा हूँ। उन्होंने उत्तर दिया, आप जैसी कविता वे दोनों अभी नहीं लिख सकते। उनकी कविता इस लिए अच्छी हो गयी है कि मैंने संशोधन कर दिया है। आपकी कविता में हाथ नहीं लगाया।

निरालाजी तो मुझसे दूर थे, किन्तु मैं उनकी रचनाओं को सँजो-सँजो कर उन्हीं में से काव्यप्रेरणा ग्रहण करता रहा। उनकी कविताओं

में मुझे उनके जिस प्राणवान व्यक्तित्व का परिचय मिला उसे प्रत्यक्ष देखने के लिए उत्कण्ठित रहने लगा।

निरालाजी से पूर्व मेरा परिचय बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' से हुआ। उनकी कोई कविता पढ़ी नहीं थी। केवल उनका नाम-धाम सुन रखा था। सोचता था, उनकी सम्पन्नता में क्या मेरा भी समावेश नहीं हो सकता!

ग्रीष्म की एक दोपहरी में प्रसादजी से मिलने गया। उस समय वे अपने पुराने मकान में ऊपर के खण्ड में बैठे हुए थे। उनकी दृष्टि बहुत सजग थी। द्वार पर पहुँचते ही उन्होंने खिड़की से झाँक कर मुझे ऊपर आने का संकेत किया। दालान की तरह एक लम्बे कमरे में दरी और चाँदनी बिछी चौकी पर वे विराजमान थे। आरम्भिक शिष्टाचार के बाद बाहरी वातावरण से मैं उनकी स्थिति को समझने का प्रयत्न करने लगा। मेरा ध्यान उनकी चाँदनी की ओर चला गया। चाँदनी क्या थी, एक धुली धोती ही तख्तपोश बनी हुई थी, जिसका नाखूनी किनारा एक ओर वातावरण की हदबन्दी कर रहा था, दूसरी ओर उनकी भीतरी परिस्थिति का सूक्ष्म परिचय दे रहा था।

उनके चारों ओर का वातावरण असाहित्यिक था। तब क्या जानता था कि कलाकार अपनी साधना अन्तःकरण में करता है। प्रसाद जी से मेरी भेंट यदि उनके बगीचे में हुई होती तो शिव-मन्दिर के प्राकृतिक प्राङ्गण में उनके अन्तःकरण का परिचय मिल जाता। वहाँ वे सांस्कृतिक और नैसर्गिक कवि के रूप में दिखाई देते।

उस दिन के बाद 'प्रसाद' जी की कविताएँ भी पढ़ने लगा। नाटकों के लिए वे जो गीत लिखते थे उन्हें ही पत्रों में प्रकाशित कराते थे। उनकी भाषा और शैली में एक ऐसी कुहेलिका थी जो मेरी समझ में नहीं आती थी।

प्रसाद और निराला, दोनों की भाषा संस्कृत से संविद्ध थी। किन्तु निराला की भाषा में काव्य की कुछ ऐसी सरसता और सजीवता थी जो हृदय को उद्‌बुद्ध कर देती थी। मैं उन्हीं का अनुसरण करता रहा। आगे चल कर 'प्रसाद' की भाषा और शैली बदल गयी, फिर भी प्राञ्जलता के अभाव में वह मुझे प्रभावित नहीं कर सकी।

जीवन के पथ में मेरे पग उन्मुक्त थे, किन्तु स्वभाव सुष्ठु था। मुक्त छन्द लिखते-लिखते मेरा स्वभाव भी उन्मुक्त और उच्छृङ्खल हो गया। निरालाजी की कविता में जिस व्यक्तित्व का उद्घोष था वह भी तो मुक्त छन्द की तरह ही उन्मुक्त था—

ऐ निर्बन्ध !—
अन्ध-तम-अगम-अनर्गल—बादल !
ऐ स्वच्छन्द !
मन्द-चञ्चल-समीर-रथ पर उच्छृङ्खल !
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधा-रहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन-घोर गगन के
ऐ सम्राट !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़ने वाले—उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़ने वाले—अपवाद !

—('परिमल')

ऐसा जान पड़ता था कि कोई काल-पुरुष बोल रहा है, उसी की तरह उसका पथ भी जटिल और दुर्गम है—

कितने ही विघ्नों का जाल
जटिल, अगम, विस्तृत पथ पर विकराल;
कण्टक, कर्दम भय-श्रम-निर्म्मम कितने शूल;
हिंस्र निशाचर, भूधर, कन्दर पशु-सङ्कुल-
पथ, घन तम, अगम, अकूल—
पार—पार करके आये, हे नूतन !
* *
स्वागत ऐ प्रिय-दर्शन !
आये, नवजीवन भर लाये ।
—('परिमल')

विना देखे ही उनकी पंक्तियों से उनके ओजस्वी स्वभाव का परिचय मिल जाता था।

अवस्था-क्रम से निरालाजी के लिए जो कुछ स्वाभाविक था, वह मेरे लिए अस्वाभाविक था। सभी के जीवन का प्रवाह एक-सा नहीं होता। मेरा जीवन तो अभी एक उत्स था। उत्साह से उछल रहा था।

उन दिनों छायावाद की कविता के समर्थन में व्रजभाषा और द्विवेदी-युग की कविता का विरोध किया जा रहा था। व्रजभाषा के कवि विलासी और द्विवेदी-युग के कवि तुक्कड़ कहे जाते थे। साहित्य के इतिहास को देखने-समझने के लिए तब तक मुझे अपना दृष्टिकोण नहीं मिल सका था।* उत्साह के आवेश में मैं भी व्रजभाषा और द्विवेदी-युग का अन्ध-विरोध करने लगा। मेरी सामाजिक अकिञ्चनता ही गुरुत्व, प्रभुत्व और आचार्य्यत्व के विरुद्ध साहित्यिक विद्रोह करने लगी थी।

---

* अब मेरा दृष्टिकोण 'ज्योति-विहग' में 'हिन्दी-कविता का क्रम-विकास' शीर्षक लेख में देखा जा सकता है।

ऐसे ही दिनों में मैं स्वर्गीय आचार्य्य पण्डित केशवप्रसाद मिश्र के निकट सम्पर्क में आया। उस समय वे सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल में संस्कृत के अध्यापक थे। अवकाश के समय घर पर भी संस्कृत के अनुरागी छात्रों के स्वाध्याय में सहयोग देते थे। यह छात्र-मण्डल ही उनका सामाजिक परिषद् था। अपनी विद्वत्ता और विदग्धता के कारण वे गुरुतुल्य थे, उन्हें सब लोग 'पण्डितजी' कहा करते। मेरे तो आप्तजन थे। जब मैं दुधमुँहा ही था तब उन्होंने मुझे पिता के कन्धों पर देखा था। साहित्यिक क्षेत्र में आने पर उन्होंने इस चिरपरिचित कुड्मल को आत्मीयतापूर्वक अपना लिया।

पाण्डित्य में गुरुगम्भीर होते हुए भी आचार्य्य केशवजी स्वभाव से बहुत सरल और सरस थे, प्रफुल्ल प्रकृति के प्रेमी मनुष्य थे, छोटे-बड़े सबके स्नेही सखा थे, सबके साथ समरस हो जाते थे—शिशुओं में शिशु, किशोरों में किशोर, तरुणों में तरुण, वृद्धों में वृद्ध। अपनी नम्रता और मधुरता के कारण लोकप्रिय थे। बातों के रसिक थे, अवकाश के समय घण्टों बड़ी खुशदिली से, खुले जी से बातें करते रहते थे। बातों का एक सजीव चित्र खींच देते थे। उनसे बातचीत करते समय बिना क्लब के ही क्लब-जैसा आनन्द मिलता था। बातचीत में वे शब्दों का सौन्दर्य्य भी परखते जाते थे। वे भाषा-विज्ञान के विद्वान ही नहीं, भाषा के कलाविद भी थे। खेद है कि वे अपनी रचना-शक्ति का परिचय नहीं दे सके।

जिस सांस्कृतिक परम्परा का मैं शिशु था, पण्डितजी उसी परम्परा के प्रौढ़ सद्गृहस्थ थे। मेरे अभावों में मुझे सन्तोष और सम्बल देने के लिए उन्होंने श्रीतुलसी-कृत रामायण का पारायण करने का परामर्श दिया। मैं धार्म्मिक दृष्टि से रामायण पढ़ने लगा। उसमें मुझे साहित्यिक स्वारस्य भी मिल गया। सभी दृष्टि से रामायण का पारा-

-यण माङ्गलिक जान पड़ा। उसका आर्षसंस्कार मेरे भीतर बद्धमूल हो गया।

पण्डित जी मेरे सांस्कृतिक निर्देशक थे, मैं उनका साहित्यिक स्वयं-सेवक था। मेरे द्वारा वे साहित्य की किशोर भावनाओं का आभास पा रहे थे। मैं उन्हें छायावाद की ओर आकृष्ट करने लगा। वे संस्कृत के काव्यतीर्थ और द्विवेदी-युग के पद्यप्रणेता थे। किन्तु उनमें साहित्यिक सङ्कीर्णता नहीं थी। उनके स्वभाव में संस्कृत के कवियों की भावमुग्धता थी। उनकी रसात्मक वृत्ति इतनी जाग्रत थी कि किसी भी भाषा, किसी भी शैली की कविता को स्वायत्त कर लेती थी। यहाँ तक कि उर्दू शायरी की खूबियों को भी उनकी भावुकता दाद देती थी। फिर छायावाद तो हिन्दी का ही सुसंस्कृत काव्य-विकास था, पण्डित जी का उसके साथ तादात्म्य हो गया।

उनकी दृष्टि में मैं एक होनहार ब्राह्मण-कुमार था। साहित्य-क्षेत्र में मुझे उगते देख कर उन्हें आत्मसन्तोष होता था—

रहिमन यों सुख होत है बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़ री अँखियाँ निरखि आँखिन को सुख होत॥

साहित्यिक सौजन्य के अतिरिक्त मुझे उनका सामाजिक सौहार्द भी प्राप्त था। मेरे जीवन और जीविका के लिए वे स्वतः सतत प्रयत्न-शील रहते थे।

उनके साहित्यिक मित्रों में सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, राय कृष्ण-दास, जयशङ्कर 'प्रसाद' उल्लेखनीय हैं। पण्डित जी मेरे लिए क्षेत्र प्रस्तुत करना चाहते थे। उन्होंने मेरा परिचय राय कृष्णदास से करा दिया, उनकी 'साधना' पढ़ कर मैं उनसे मिलने के लिए उत्सुक था।

राय कृष्णदास एक ऐसे रईस थे जिन्हें कला और काव्य से अनुराग था। चित्रों की तरह ही उन्हें अपने आस-पास योग्य व्यक्तियों को भी एकत्र करने का शौक़ था। मुझमें भला क्या योग्यता थी ! फिर भी वे अपने पुस्तकालय को मुझसे व्यवस्थित कराना चाहते थे। किन्तु मेरा मन भ्रमणशील था, किशोरावस्था का कुतूहल अभी शान्त नहीं हो सका था। स्वर्गीय हरिकृष्ण 'जौहर' की प्रेरणा से 'मौजी' में काम करने के लिए कलकत्ता चला गया।

'मौजी' तो एक बहाना था, असल में मैं उस कलकत्ते को देखना चाहता था जिसके बारे में बचपन से ही न जाने क्या-क्या सुनता आ रहा था—वह कुबेरों का मायालोक ! जहाँ किसी छोटे-मोटे आदमी का गुजारा नहीं। मेरे जीजा के सबसे छोटे भाई हंसनाथ तिवारी एक बार भाग कर कलकत्ते गये थे। वे शौक़ीन थे। पान की दूकान करने पर भी वहाँ टिक नहीं सके। मुरझाया शरीर लेकर घर लौट आये। उसी कलकत्ते में 'मौजी' मेरे ठहरने के लिए एक ठौर-ठिकाना था।

उस समय कलकत्ता बृटिश साम्राज्य का दूसरा महानगर था। चारों ओर का वातावरण रहस्याच्छादित जान पड़ता था। कैसी-कैसी रंगरेली थी, कैसी-कैसी चहल-पहल, कैसी-कैसी हलचल ! रात्रि में अन-गिन बिजलियों की जगमगाहट से कलकत्ता नक्षत्र लोक की तरह जगमगा उठता था। चारों ओर का वातावरण स्वप्नों में गुञ्जार करने लगता था।

'मौजी' नाममात्र का मौजी था। उसका कलेवर रंगीन था, दिल ग़मगीन। बाजार में वह चल नहीं रहा था। पैसे के अभाव में कर्म्मचारियों को गम खाकर रहना पड़ता था। मेरे लिए बगल के ही एक बंगाली भोजनालय में भोजन का प्रबन्ध हो गया था। कैसा वीभत्स वहाँ का भोजन था ! यदि मुझे भूख नहीं होती तो कै हो जाता।

'मौजी' के सम्पादन में सहयोग देने के लिए मैं आया था किन्तु मेरे जीवन में कोई मौज नहीं थी। इस मौज की दुनिया में आकर भी मैं मुहर्रम मना रहा था। रोज कोरोन्थियन थियेटर और अलफ्रेड थियेटर का नाम सुनता था, किन्तु एक दिन भी कोई नाटक नहीं देख सका। बचपन में जैसे बाहरी दुनिया से दूर अपने में ही आत्मलीन था, वैसे ही यहाँ भी आत्मविभोर रह गया। दर्पण में मैं अपने ही 'आप' को देखा करता था, अपनी ही किशोर-छवि पर मुग्ध हो उठता था। मैं ही द्रष्टा और मैं ही दृश्य था।

कभी-कभी 'मतवाला'-मण्डल से बुलावा आ जाता था। किन्तु वहाँ मेरा क्या तुक, न हँसी जानूँ, न चुहल!

'निराला' जी कलकत्ते से अपने गाँव गढ़ाकोला चले गये थे। मुझे पद्मा और विजय मिल गये। उन्हीं समवयस्कों के साथ वह प्रवास काव्य-सुखद हो गया।

'मौजी' से मैं ऊब उठा था। एक दिन सञ्चालक ने ही अन्तिमेत्थम दे दिया। अब किधर जाऊँ?—उसी दिन मुस्कराते हुए भाई शिवपूजन सहाय आ पहुँचे। उनका यह अचानक आगमन एक आकस्मिक अवतरण था। उन्होंने मुझे 'गोलमाल' का सहायक सम्पादक बना दिया। कलकत्ते में मैं फिर कुछ दिन रुक गया।

'मौजी' और 'गोलमाल' हास्य रस के पत्र थे। मैं न तो शर्ले टेम्पिल था और न चार्ली चैपलिन। हँस सकता था, हँसा नहीं सकता था। जिसके जीवन में मौज नहीं, गोलमाल नहीं, उसे हास्यरस के पत्र का सम्पादन करना पड़े! यह स्वयं मेरे साथ नियति का कितना बड़ा परिहास था!!

अनधिकार प्रयास छोड़ कर मैं फिर अपनी तीर्थभूमि में चला आया।

काशी,
७ अगस्त, १९५२

भावना का केन्द्रीकरण

काशी,
८ अगस्त, १९५२

सन्' २३ से २५ तक की अल्प अवधि में ही छायावाद का काव्य-साहित्य सुसम्पन्न हो गया। निराला और पन्त की प्रतिभा से वह ऐश्वर्य्यवान् हो गया, अन्य तरुण कवियों ने उनसे प्रेरित होकर अपनी-अपनी रचनाओं से उसका अभिषेक किया।

कलकत्ते से काशी आने पर बहिन के साथ मैं देहात चला गया। वहाँ से लौटते समय मुझे यह सूझ गया कि छायावाद की कविताओं का एक सुरुचि पूर्ण संग्रह तैयार करना चाहिये। मैं अपने प्रयत्न में लग गया। श्री मदन मोहन मिहिर उन दिनों बनारस में ही अज्ञातवास कर रहे थे। उन्होंने मुझे प्रोत्साहन दिया, सहयोग दिया।

छायावाद क्या है?—यह उस समय स्पष्ट नहीं हो रहा था। उसके समर्थक प्रायः व्रजभाषा का ही विरोध करते थे। किन्तु द्विवेदी-युग के साथ भी उसका मेल नहीं बैठ रहा था। तो फिर छायावाद में द्विवेदी-युग से क्या भिन्नता थी? मोटे तौर से यही जान पड़ता था कि उस युग की अपेक्षा भाषा, भाव और शैली में नवीनता आ गयी है। मैं इसी दृष्टि से 'परिचय' में काव्यसंग्रह करने लगा। मेरे संग्रह में बाबू

मैथिलीशरण गुप्त को भी स्थान मिल गया क्योंकि उनकी कई कविताओं में मुझे गीतकाव्य* का आनन्द मिला।

संग्रह में कवियों को मैं वय-क्रम से स्थान दे रहा था, इसलिए गुप्तजी का नाम प्रसादजी से पहिले आ गया। यों भी खड़ीबोली के कवियों में वे अग्रगण्य हैं। प्रसादजी ने कहा—मैथिलीशरण छायावाद के कवि नहीं हैं। फिर भी मैं गुप्तजी की कविताओं का मोह नहीं छोड़ सका। उन्होंने अपनी स्वीकृति नहीं दी, इसीलिए 'परिचय' उनकी रचनाओं से रिक्त रह गया।

निराला और पन्त के बाद काव्य-क्षेत्र में महादेवीजी का भी नाम सुनाई देने लगा था। सन् २५ में 'चाँद' में उनकी कविताएँ निरन्तर प्रकाशित हो रही थीं। 'परिचय' में उन्हें भी स्थान देना चाहता था, किन्तु स्वीकृति लेने के लिए पता नहीं पा सका। उनकी रचनाओं से भी 'परिचय' वञ्चित रह गया।

'परिचय' में कवियों की कविताओं के आधार पर मैंने उनकी काव्यात्मा का भावात्मक परिचय लिखा था। इस तरह कवि और उसकी कविता—दोनों का अभिधेय 'परिचय' हो गया, संग्रह के लिए किसी अन्य नाम की आवश्यकता नहीं पड़ी।

'परिचय' उस समय के काव्य-संग्रहों में सर्वथा मौलिक प्रयास था। वह स्वान्तःसुखाय था, अतएव, आज कल के व्यावसायिक काव्य-संग्रहों की तुलना में भी उसका अपना स्थान है। अब अप्राप्त है। उसे देख कर एक मित्र ने कहा था—कारावास भी इससे सुखमय हो जायगा।

---

* देखिये गुप्तजी की 'झंकार'।

'परिचय' का परिचय जब आचार्य्य पण्डित केशवप्रसाद मिश्र को मिला तो वे भी उस पर रीझ उठे। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से उसकी छोटी-सी भूमिका लिखी। उनकी भूमिका का शीर्षक था—'सुनिये।' यह मानो धुँधले वातावरण में छायावाद को ठीक-ठीक समझाने के लिए सहृदयता का निमन्त्रण था। पण्डितजी ने छायावाद के काव्य-स्वरूप का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया—

"यह शरीर नहीं आत्मा है, छायावान् नहीं छाया है, डील-डौल नहीं लावण्य है जिसे कवित्त्व कहते हैं। देखिये आनन्दवर्धन क्या कहते हैं—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

अनाहूत एवं स्वयमागत शब्दों के द्वारा उसी लावण्य अथवा छाया का निर्देश करना छायावाद की कविता है। इस निर्देश की कोई निर्दिष्ट शैली नहीं हो सकती। हृदय में वेदना चाहिये, वह स्वयं अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ़ लेती है।......"

'परिचय' ही साहित्यिक जगत के लिए मेरा भी परिचय बन गया। राय कृष्णदास ने उसे प्रकाशनार्थ ले लिया। सन्' २६ में वह साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) से प्रकाशित हुआ। काव्यप्रेमियों ने उसका स्वागत किया। हिन्दू विश्वविद्यालय में वह एम० ए० (हिन्दी) का पाठ्यग्रन्थ हो गया। उस समय हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दरदास थे।

... ...

कलकत्ते के कलरव-कोलाहल से आने के बाद मैं खोया-खोया रहता

था, बनारस सूना-सूना लगता था। उसी समय 'मतवाला' में विजय की एक कविता प्रकाशित हुई—

बहता है गन्ध-विधुर समीर
मन मेरा है क्यों आज उदास ?
खोज मची है
ढूँढ़ चुका मैं यह जग वह आकाश
न पाया किन्तु कहीं आभास।
तरङ्गित नीलाम्बर में
बजता मेरा ही चञ्चल क्रन्दन
कोटि-कोटि तारा-रवि-शशि-ग्रह
नाच रहे हैं विकल व्यथित मन।

इस कविता में मुझे अपनी ही मनःस्थिति का चित्र मिला। पद्मा ने पत्र में लिखा—समय कितना निष्ठुर परिवर्त्तनशील है! कल तक हम लोग कहाँ थे, आज कितनी दूरियों पर बिखर गये हैं! हृदय में स्मृति किसी मधुर पीड़ा की तरह कसक उठती है।

जहाँ स्नेह के सम्वादी स्वर संयुक्त होते है वहीं तो जीवन मधुमय हो जाता है। 'परिचय' प्रकाशित होने के पहिले ही सन् १६२५ में मैं फिर कलकत्ता चला गया। वणिक प्रेस से बाबू शिवपूजनसहाय के सम्पादन में 'उपन्यास-तरङ्ग' नामक मासिक पत्र प्रकाशित होने लगा था, प्रेस में मुझे भी प्रूफ़ संशोधन का काम मिल गया।

दोपहर में भोजन के लिए हरिसन रोड पर कलकत्ता-प्रवासी बिहारियों के भोजनालय में जाता था। लौटते समय पद्मा का साथ हो जाता। वह कालेज में पढ़ता था, पास में रहता था, इस लिए खाली पीरियड मे उसे पर्य्याप्त समय मिल जाता। हम दोनों पार्क में बैठ कर

इधर-उधर की न जान कितनी बातें करते। उन बातों में किशोरावस्था की उड़ान रहती थी। मैं भूल जाता था कि रोजी से भी बँधा हुआ हूँ। किन्तु पंछी क्या चारे की ही खोज में रहना है, क्या उसमें उड्डयन का उल्लास नहीं होता!

इस बार कलकत्ता आने पर पहिले 'मतवाला' कार्य्यालय में ठहरा था। निरालाजी भी वहीं थे। उन्होंने मेरा आतिथ्य किया। दो-चार दिन में ही उनके स्वभाव का वैचित्र्य स्पष्ट हो गया। उनके 'पञ्चवटी-प्रसङ्ग' की ये पंक्तियाँ उनके स्वभाव पर भी घटित होती थीं—

"त्रुटि पर ज्यों बिजली सी टूटतीं सुमित्रा माँ
शत्रु पर त्यों सिंह-सा झपटता है लखनलाल"

मैं न तो निरालाजी का शत्रु था, न मित्र; था केवल एक साहित्यिक जिज्ञासु। उनका रोष सह कर भी मैं उनसे शिक्षा ग्रहण करना चाहता था।

निरालाजी पौरुषेय कवि थे। उनके व्यक्तित्त्व का काव्य में अपना वैशिष्ट्य है। मेरी वृत्ति कोमला है। बचपन में प्रकृति की जिस निर्द्वन्द्वता और प्रफुल्लता के वातावरण में खेलता था उसे ही कवि और काव्य में देखना चाहता था।

एक दिन 'सरस्वती' पढ़ रहा था। उसमें पन्तजी की कविता छपी थी—'बालापन'—

चित्रकार! क्या करुणा कर फिर
मेरा भोला बालापन
मेरे यौवन के अञ्चल में
चित्रित कर दोगे पावन?

× × ×

अहो विश्वसृज ! पुनः गूँथ दो
वह मेरा बिखरा—सङ्गीत
माँ की गोदी का थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत।

मुझे यह कविता अपने ही शैशव की तरह सहज जान पड़ी। (पन्त की प्राञ्जलतम रचनाओं के बाद 'सरस्वती' में उनकी कुछ अर्द्धविकच रचनाएँ प्रकाशित होने लगी थीं।) 'बालापन' पढ़ने के बाद पन्त की भाव-निगूढ़ रचनाओं की काव्यात्मा स्पष्ट हो गयी। 'बालापन' की बालिका ही तो अपना भावनीय रूप विसर्जित कर प्रकृति में विलीन हो गयी थी। जो कभी कहती थी—

विहग-बालिका का-सा मृदु स्वर,
अर्द्ध-खिले, नव, कोमल अङ्ग,
क्रीड़ा—कौतूहलता मन की,
वह मेरी आनन्द-उमंग !

अब वही तो प्रकृति में सर्वत्र व्याप्त हो गयी थी—

तुम जल-थल में अनिलाकार
अपनी ही लघिमा पर वार,
करती हो बहु-रूप विहार।
—('वीचि-विलास')

इस अतीन्द्रिय बालिका में प्रकृति की सगुण लीला थी। मानवी अभिव्यक्तियों के कारण पहिचानी-सी लगती थी, किन्तु निःशरीर चेतना के कारण अलौकिक जान पड़ती थी—

दिव्य भूति-सी आ तुम पास,
कर जाती हो क्षणिक विलास,
आकुल उर को दे आश्वास।
—('वीचि-विलास')

निराला और पन्त की भाषा और छन्द के अनुरूप ही उनकी कविता है। मुक्त छन्द की तरह ही निराला की भाषा में एक नाट्यभङ्गिमा है, मात्रिक छन्द की तरह ही पन्त की भाषा में एक मर्य्यादित गृह-सुषमा। वह पूर्णतः परिमार्जित और सुस्निग्ध है, मानो खुरदुरी खड़ीबोली चाँदनी हो गयी है।

निराला की कविता के बाद मैं पन्त की कविता से उसी तरह प्रभावित हो गया, जिस तरह स्वामी सत्यदेव के ओजस्वी लेखों के बाद स्वामी राम के मधुर प्रवचनों से।

......काशी लौटने पर मन-ही-मन पन्त के कवि-स्वरूप की कल्पना करने लगा। एक दिन कवि को प्रत्यक्ष देखने के लिए इलाहाबाद चला गया।

पन्तजी उन दिनों प्रयाग में ही थे। सन्' २६ में जब वे 'पल्लव' प्रकाशित करने जा रहे थे तब मैं उनसे मिला। उनका व्यक्तित्त्व स्वयं एक मनोहर काव्य जान पड़ा। अपनी कविता की तरह ही कवि ने भी मेरे हृदय में शाश्वत स्थान बना लिया।

पन्त का कवि-दर्शन मेरे लिए एक स्वर्गिक सौभाग्य था। आज सोचता हूँ, यदि हिन्दी के काव्य-क्षेत्र में उनका आविर्भाव न हुआ होता तो साहित्य में मेरी क्या स्थिति होती !

काशी,
१८ अगस्त, १९५२

संस्कृति की आत्मा

काशी,
१८ अगस्त, १९५२

कलकत्ते से मेरे लौटने के पहिले ही बहिन देहात चली गयी थी। काशी में वह अस्वस्थ हो गयी थी। शरीर की तरह निजी घर न होने के कारण उसे अपनी आत्मा के अनुकूल वातावरण कहीं नहीं मिलता था। तनिक-सी भी अशुचिता, तनिक-सी भी कुरुचि और कुरूपता वह सह नहीं सकती थी, असह्य वेदना से रुग्ण हो जाती थी।

काशी तीर्थभूमि थी, किन्तु इस तीर्थभूमि में पवित्रता नहीं थी। अतीत के जिन पावन चरित्रों ने इसे पवित्र कर दिया था उन्हीं को गङ्गाजल से श्रद्धाञ्जलि देने के लिए वह कल्पवती यहाँ कल्पवास करती थी। उसकी जैसी श्रद्धालु आत्माओं के पुण्यस्पर्श से ही तो काशी अब भी काशी बनी हुई है।

नगर की अपेक्षा उसे देहात अच्छा लगता था। देहात भी कोई स्वर्ग नहीं था, किन्तु वहाँ पूर्वजों के गृह-प्राङ्गण में, शरीर के भीतर आत्मा की तरह वह प्रकृतिस्थ हो जाती थी। अपने आवास को प्रकृति-धाम बना लेती थी।

उसका जीवन एक धर्म्म-काव्य था। आचार-विचार उसका छन्द

और भाव था, सौन्दर्य्य-संस्कार उसका स्वर-सामञ्जस्य था। 'आत्मा वै रसः' में उसकी आत्मा वैष्णवी थी।

अपनी सुरुचि से घर-आँगन की तरह ही वातावरण को भी शुद्ध कर सूक्ष्म चेतन की सगुण-पूजा करती थी। गङ्गाजल या सरयू-जल से तुलसीचौरे को अभिषिक्त कर रामायण का पाठ करती थी। सृष्टि की सुघरता को जिस मधुर रूप में उसने ग्रहण किया था उसी को रामायण के पाठ में लयमान कर देती थी, रूप को स्वर दे देती थी। उसके रामायण-पाठ में उसकी अन्तर्वीणा ही सुरीली होकर बज उठती थी। ऐसा जान पड़ता था कि विश्वात्मा की गति-यति-रति ही उसकी आत्मा के सुर में स्वर-संसरण कर रही है।

अपने प्रभु से भला वह क्या आवेदन-निवेदन-क्रन्दन करती थी! वही जो गोमुखी पृथ्वी ने जगत के त्राण के लिए विश्वम्भर से किया था।

उसकी पूजा आत्मकल्याण के लिए ही नहीं, लोकमङ्गल के लिए थी। ठाकुरजी को भोग लगा कर वह स्वयं ही भोजन नहीं कर लेती थी, अड़ोस-पड़ोस के बच्चों को खिला कर खाती थी। उसके कान में भनक पड़ जाने पर कोई पथिक भूखा-प्यासा नहीं जा सकता था। दूसरों के लिए उपवास कर लेने में उसे वही सात्त्विक सन्तोष होता था जो एकादशी के व्रत में।

गाँव के किसान प्रायः अपना अभाव-अभियोग लेकर उसके पास आते रहते। अपने स्वल्प वित्त से यथाशक्ति वह सबकी सहायता करती। कछार में बहती क्षीणतोया सरजू की तरह सबको जीवन देती रहती।

केवल अपनी पूजा के स्थान को ही नहीं, समाज के कोने-कोने को, जीवन के पग-पग को वह मन्दिर की तरह ही पावन देखना चाहती थी। कला और संस्कृति से मानव-मन ही तो देवालय बन सकता था।

देहात में बालिकाओं में शिक्षा का प्रचार करने के लिए वह उन्हें पढ़ाने-लिखाने लगी। प्रति वर्ष स्कूलों, कालेजों, युनिवर्सिटियों से जो इतनी शिक्षिताएँ निकल रही हैं उनकी तुलना में उसमें क्या योग्यता थी! बचपन में उसने मिशन स्कूल में कुल दूसरे दर्जे तक पढ़ा था। उस समय स्त्री-शिक्षा का विशेष प्रचार नहीं था। पढ़ने की इच्छा बनी रहने पर भी सामाजिक बाधाओं के कारण आगे पढ़ नही सकी। किन्तु उसकी शिक्षा का स्रोत रुक नहीं गया, वह मात-पिता के तपःपूत चरणों से निःसृत होकर गृह-साधना में प्रवाहित होने लगा। वह अक्षरवती कल्पवती सरस्वती हो गयी। उसकी पदधूलि आँखों में आँज लेने को जी चाहता था।

अपनी देहाती पाठशाला में वह संस्कारिता को विशेप महत्त्व देती थी। इसके बाद दस्तकारी और साक्षरता के लिए प्रयत्नशील रहती थी। घरेलू कुशल-क्षेम के लिए चिट्ठी-पत्री लिखने से लेकर जीवन-पथ को मङ्गलमय बना देने के लिए रामायण के पाठ तक उसकी शिक्षा का विस्तार था। प्रतिदिन प्रातःकाल जब ईश्वर-वन्दना कराती तब पक्षियों के कलरव से मुखरित आकाश की तरह ही पृथ्वी भी गुञ्जरित हो उठती थी।

वह अध्यापिका नहीं; कुलकन्याओं की धात्री थी, संरक्षिका थी, ग्रामदेवी थी।

काशी,
२० अगस्त, १९५२

अध्ययन और अनुभव

काशी,
२१ अगस्त, १९५२

कलकत्ते से काशी आने पर एक दिन प्रसादजी ने कहा—तुम व्यर्थ इधर-उधर हैरान होते हो, अकेले आदमी हो, तुम्हें क्या चाहिये—एक मुट्ठी अन्न और एक छोटा-मोटा कपड़ा। तुम मेरे यहाँ आकर रहो।

क्या सचमुच मुझे असन-वसन से निश्चिन्तता मिलने जा रही थी, यदि समस्या यों ही हल हो जाती तो जीवन में फिर हलचल ही क्या रह जाती! तब भावुक ही था, वास्तविकता से अनभिज्ञ आँखों को संसार सुहावना ही सुहावना दिखाई देता था।......

मैं प्रसादजी के यहाँ रहने लगा। मुझे उनके साहित्यिक जीवन का पूर्व इतिहास मालूम नहीं था। अभी तो मैंने काव्य-जगत में प्रवेश किया था। क्या जानता था कि प्रसादजी निराला और पन्त से पहिले ही विरोधी वातावरण का अतिक्रमण कर अपनी काव्य-साधना में लगे हुए थे। एक ओर उन्होंने सुर्ती सुँघनी के कारखाने और अड़ोस-पड़ोस के पुराने ढंग के समाज से ऊपर उठ कर आत्मोन्नयन किया था, दूसरी ओर रीति-युग और द्विवेदी-युग की सङ्कीर्णताओं से संघर्ष। इन दोनों युगों ने उनकी कविताओं का बहिष्कार कर दिया था। अपने लिए

किसी अच्छे मासिक पत्र के अभाव में उन्होंने स्व० अम्बिकाप्रसाद गुप्त के द्वारा 'इन्दु' प्रकाशित कराया था।

मैं जब प्रसादजी के सम्पर्क में आया तब वे साहित्य-क्षेत्र में एकाकी थे। कोई साथी चाहते थे। मुझे सरल और भावुक समझ कर उन्होंने अपने साथ रख लिया।

उस समय तक प्रसादजी की छोटी-बड़ी कई कविता-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं, जिनमें 'झरना' का विशेष स्थान था। बड़े नाटकों में 'अजातशत्रु' ही प्रकाशित हुआ था।

अपने नाटकों में सम्मिलित करने के लिए लिखी गयी मुक्तक कविताएँ प्रसादजी मुझे सुनाया करते थे। वे कविताएँ मेरी समझ में नहीं आती थीं। सच तो यह कि उनमें छायावाद की ताज़गी नहीं थी, पुरानापन था। मेरा किशोर हृदय निराला और पन्त की तरुण रचनाओं से ओत-प्रोत था। प्रसादजी जब अपनी कविताएँ सुनाते तब मैं मूक रह कर ही अपनी मुग्धता का अभिनय करता।

निरालाजी के काव्य-प्रभाव से मैं मुक्त नहीं हो सका था। प्रसादजी से प्रायः उनकी कविताओं का उल्लेख करता रहता। एक दिन प्रसादजी ने अपनी एक कविता दिखलाई, जिसे उन्होंने मुक्तछन्द में लिखा था—'किसी पथिक की राह देखते अलस अकम्पित आँखों से।'

मुक्तछन्द में यह कविता सध नहीं सकी थी। प्रसादजी ने फिर इसे छन्दोवद्ध कर अपने किसी नाटक में दे दिया।

निरालाजी के कथनानुसार मुक्तछन्द में नाटकीय विशेषता है। अपने परवर्त्ती साहित्यिक जीवन में नाट्यकार प्रसादजी मुक्तछन्द से ऐसे प्रभावित हुए कि 'लहर' की कई कविताएँ उन्होंने इसी छन्द में

लिखीं—'पेशोला की प्रतिध्वनि', 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण', 'प्रलय की छाया में ।'—ये कविताएँ बड़ी ही सुगठित और सजीव हैं ।

छायावाद का अनुरागी होते हुए भी एकाएक मुझे व्रजभाषा से प्रेम हो गया । खड़ीबोली हो या व्रजभाषा, मैं तो हार्दिकता और सरसता चाहता था । प्रसादजी के पड़ोस में स्व० लक्ष्मीनारायण सिंह 'ईश' रहते थे । वे स्वयं भी व्रजभाषा के कवि थे । कई कापियों में उन्होंने पुराने शृङ्गारिक कवियों की कविताएँ लिख रखी थीं । उन्हीं के संग्रह के सहारे मैं भी व्रजभाषा का रसास्वादन करने लगा । कुछ कविताएँ चुन कर मैंने 'मधु-सञ्चय' प्रस्तुत किया जो हिन्दी-पुस्तक-भण्डार (लहरिया सराय) से प्रकाशित हुआ ।

... ...

मैं प्रसादजी के यहाँ शायद एक महीने तक रहा । किसी सञ्जीवनी स्मृति की तरह बहिन की याद आ गयी । उससे मिलने के लिए देहात चला गया । वहाँ मेरे परिश्रान्त जीवन को विश्राम मिला ।

किसी पर्व्व-स्नान के अवसर पर मैं फिर बहिन के साथ काशी आया । हमारे गाँव के पण्डित विन्ध्येश्वरीप्रसाद द्विवेदी काशी में संस्कृत पढ़ते थे । त्रिपुरा भैरवी में उन्हीं के यहाँ बहिन ठहर गयी । उस सँकरी गली के पुराने-धुराने मकान में मेरा मन नहीं लगा । पीठ पर अपनी गठरी बाँध कर जब मैं जाने लगा तब बहिन ने कहा—अरे, कहाँ जाते हो ! यहीं रहो न ।...

मैं रुका नहीं, प्रसादजी के यहाँ चला गया ।

प्रसादजी प्रसन्न मन से नहीं मिले । बगीचे के द्वार पर जिस

छोटी-सी कच्ची कोठरी में मैं रहता था जब उसकी ओर देखने लगा तब प्रसादजी ने कहा—जगह खाली नहीं है, मेहमान आये हुए हैं।

भला, उस मूषक-गृह (मेरी कोठरी) में कौन मेहमान मिहमानी करने आया होगा ! वह तो खाली ही पड़ा हुआ था।

प्रसादजी की कहानी का 'बिसाती' तो अपना भार जहाँ का तहाँ छोड़ कर चला गया था, किन्तु मैं किस स्नेह के अधिकार से अपना भार वहीं छोड़ देता। अपनी गठरी उठा कर वापस चल पड़ा फिर बहिन के आश्रय में।

जान पड़ता है, प्रसादजी के मन से मन मिला कर मैं उनका काव्यानुरञ्जन नहीं कर सका था। मुझमें सभा-चातुर्य्य नहीं था। ओस-विन्दु की तरह मेरा अपना भी एक नन्हा-सा स्वतन्त्र अस्तित्त्व था।

बहिन तो देहात चली गयी और मैं काशी में ही अपना कार्य्यक्षेत्र ढूँढ़ते-ढूँढ़ते राय कृष्णदास के सम्पर्क में आ गया। उन्होंने मुझे अपने पुस्तकालय को व्यवस्थित करने का काम दे दिया। उस काम में मेरा मन लग गया, वह साहित्यिक अध्ययन की दृष्टि से भी मेरे लिए बहुत उपयोगी था।

प्रसादजी और राय कृष्णदास में बाल्यावस्था से ही मित्रता थी। एक दिन प्रसादजी रायसाहब से मिलने आये तो पुस्तकालय में मुझे देखकर वहीं रुक गये। मैंने उनकी ओर से मुँह मोड़ लिया। पास आकर प्रसादजी ने कहा—भई, क्षमा करना, मनुष्य क्या सोचता है, क्या कर बैठता है !

मैंने बेमन से केवल सिर हिला दिया।

संसार को अभी भली भाँति देखा नहीं था, इस लिए भ्रमण की लालसा बनी हुई थी। किन्तु एक मनोनुकूल काम में लग जाने से मुझमें सुस्थिरता आ गयी। मेरी प्रवृत्ति रचनात्मक हो गयी।

'परिचय' के प्रकाशित होने पर पत्र-पत्रिकाओं से लेख की माँग आने लगी। सबसे पहिले बख़्शीजी का पत्र आया। उन्होंने नवीन कवियों की तरह प्राचीन कवियों पर भी कुछ लिखने के लिए कहा। मैंने 'प्राचीन हिन्दी-कविता' शीर्षक लेख लिख कर भेज दिया, वह 'सरस्वती' में छप गया। उस समय बख्शीजी के सम्पादन-काल में 'सरस्वती' में कुछ छप जाना सम्मान की बात समझी जाती थी, क्योंकि वे बड़ों-बड़ों की रचनाएँ अस्वीकृत कर देते थे।

कलकत्ते से 'विशाल भारत' निकलने लगा था। उसके सम्पादक पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी छायावाद की कविताओं पर लेख चाहते थे। यह मेरे लिए कठिन काम था। व्रजभाषा की काव्य-समीक्षा के लिए तो रीति-शास्त्र था, किन्तु छायावाद की व्याख्या और समीक्षा के लिए कोई वैसा वैधानिक साधन सुलभ नहीं था। मैं आकुल-व्याकुल होकर नयी आलोचना का मार्ग खोजने लगा। कोई पथ-प्रदर्शक नहीं मिल रहा था। अचानक आयरिश कवि ईट्स के सम्बन्ध में रवि बाबू का लेख हाथ में आ गया। वह 'सरस्वती' में अनुवादित होकर छपा था। छायावाद की कविता की तरह ही उसमें काव्य का विवेचन भी भावात्मक था। मैंने आलोचना की वही शैली पकड़ ली। उसी शैली में मेरे कई लेख 'विशाल भारत' में प्रकाशित हुए।

अब तक रवि बाबू की मैंने कोई कविता नहीं पढ़ी थी, किन्तु उनके लेखों में ही मुझे काव्य का आनन्द मिल जाता था। उनका यश पृथ्वी के ऊपर आकाश की तरह छाया हुआ था। वे दूसरे ईश्वर

जान पड़ते थे। कभी उन्हें निकट से देख पाने की आशा नहीं थी। किन्तु सन् १९२७ में एक दिन वे काशी आ पहुँचे, राजघाट के बेसेन्ट कालेज का उद्घाटन करने के लिए।

सायङ्काल सभा में जब मैं पहुँचा तब वे अपना लिखित भाषण पढ़ रहे थे। उपस्थिति साधारण थी, इसलिए मैं आसानी से उनके चरणों के पास पहुँच गया। अंग्रेजी जानता नहीं था, केवल उनके मुख और कण्ठस्वर से ही उनका आन्तरिक परिचय पाने का प्रयत्न करने लगा। मैंने देखा, बिना मुस्कराये ही उनकी दन्त-द्युति में विद्युतविलास था। उनके गद्यपाठ में भी गीतकाव्य का प्रवाह था। ऐसा जान पड़ता था कि कोई आंग्ल किशोरी 'ट्रोसोकेडो' बजा रही है—

टन टन टन टन
टिन टिन टिन टिन
टुन टुन टुन टुन
टिन टिन टिन टिन टुन।

क्या कवि के वृद्ध कलेवर में उसकी आत्मा बालिका ही थी! काल से आँखमिचौनी खेल कर वह भीतर ही छिपी रह गयी!!

कविता के बाद मुझे कथा-साहित्य ने आकर्षित किया। एक दिन थकान मिटाने के लिए आलमारी में से यों ही एक पतली-सी किताब उसके नीले पुट्ठे से आकृष्ट होकर निकाल ली। (मुझे कुछ रंगों से अनुराग है। नीले रंग में आकाश की नीलिमा आँखों को सुख देती है।)—वह थी शरद बाबू की 'मँझली दीदी।' तब तक मैंने उनका नाम भी नहीं सुना था। 'मँझली दीदी' का पहला पैरा पढ़ते ही मुझे ऐसा जान पड़ा कि अपने गाँव से जब मैं अमिला में जीजी के यहाँ गया था उसी समय का यह मेरा ही चित्र है। फिर तो अतीत के

खोये रत्नों की तरह शरद की एक-एक रचना खोज-खोज कर मैंने पढ़ डाली। उनमें मुझे स्वाभाविकता, गार्हस्थिकता और चिरउपेक्षितों के लिए माया-ममता मिली।

विक्टर ह्यूगो का 'अभागा' जब पढ़ा तब स्वप्न में 'जेन वेलजीन' से बातें करने लगा। मैंने कहा—कौन तुम्हें चोर, डाकू, आवारा कहता है? तुम तो महान हो, समाज से सताये हुए निरीह प्राणी हो!

शरद और ह्यूगो की रचनाओं ने बड़प्पन की परिभाषा बदल दी, उनसे मुझे एक नयी मनोवैज्ञानिक दृष्टि मिली। अपनी सामाजिक वस्तुस्थिति का भी बोध हुआ।

रेनाल्ड्स के 'लन्दन-रहस्य' में कविता और उपन्यास दोनों का रस मिला। सौन्दर्य्य और यौवन का वैसा उन्मादक चित्र भला कहाँ मिलेगा! किन्तु वह ऐसा सचेतन शिल्पी था कि रूप पर ही न मँड़रा कर मानवी आत्मा का भी करुण स्पर्श कर गया है।

जनता की पीड़ा से मर्म्माहत होकर उसने विलासिता की तीव्र भर्त्सना की है। स्थल-स्थल पर वह क्षुब्ध और क्रुद्ध हो उठा है। राजनीतिक चेतना के पूर्व रेनाल्ड्स अपने युग का आरम्भिक समाजवादी कलाकार जान पड़ता है।

यदि मेरी आर्थिक स्थिति ठीक होती तो मैं पुस्तकालय में केवल स्वाध्याय ही करता रहता। फिर भी यान्त्रिक कार्य्यवाहक नहीं था, नौकरी के बन्धन में भी अध्ययन करता रहा। छायावाद के अतिरिक्त अन्य युगों के साहित्य से भी मैं परिचित हो गया।

पुस्तकालय का काम निपट जाने पर मुझे दूसरा काम मिला। रायसाहब प्रकाशन करना चाहते थे। लीडर प्रेस में हस्तान्तरित

'भारती-भण्डार' को उन्हींने काशी में जन्म दिया था। सन् १६२७ की वसन्तपञ्चमी के शुभ अवसर पर मेरे ही हाथों उसका कार्य्यारम्भ हुआ था।

भारती-भण्डार में मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। तब मेरा नया-नया उत्साह और नया-नया शरीर था, इसलिए वह परिश्रम अखरा नहीं।

उस समय भारती-भण्डार से मुख्यतः प्रसादजी और रायसाहब की ही रचनाएँ प्रकाशित हुईं। मैं ही प्रेसकापी करता था, मैं ही प्रूफ देखता था, यथास्थल रचनाओं में संशोधन भी करता था,व्यवस्थापक की ओर से वक्तव्य लिखता था। भारती-भण्डार के तत्त्वावधान में काशी से प्रकाशित प्रसादजी की सभी पुस्तकों की संक्षिप्त आरम्भिक भूमिकाएँ मेरी ही लिखी हुई हैं। रायसाहब को मुझ पर विश्वास था, इसलिए भारती-भण्डार का मै ही अस्थिमय आधार था।

रायसाहब का गद्य व्यवस्थित और परिष्कृत था। प्रसादजी का गद्य विशृङ्खल और ऊबड़-खाबड़ था। उन्होंने भाषा का अभ्यास नही किया था, भाव के आवेग में उनके वाक्य प्रायः लुण्ड-मुण्ड शिला-खण्डों की तरह लुढ़कते रहते थे। कभी आचार्य्य केशवप्रसाद मिश्र और कभी रायसाहब उनकी भापा का संशोधन कर देते थे। कभी-कभो मैं भी उनके वाक्यों में संगति लाने का विनम्र प्रयास करता था।

प्रेस के लिए कापी तैय्यार करने और प्रूफ देखने के कारण काशी में भारती-भण्डार से प्रकाशित प्रसादजी की रचनाओं का सर्वप्रथम पाठक मैं ही बना। उनके एक-एक शब्द पर बार-बार मेरी दृष्टि दौड़ती रही है।

प्रसादजी के नाटकों, कहानियों और उपन्यास ('कङ्काल') में मुझे साहित्य का अलौकिक आनन्द मिला। प्रति-लिपि करते समय मुझे आयास नहीं मालूम पड़ता था। उनकी रचनाओं में उसी तरह सन्तरण करता था जिस तरह सरिता के प्रवाह में। मैं विह्वल हो उठता था, अपनी स्थिति भूल जाता था।

प्रसादजी के नाटकों और कहानियों की शैली और वातावरण हिन्दी में बेजोड़ है। नाटकों में वास्तविकता के सूक्ष्म सैकत पर रस का महार्णव लहरा रहा है, कहानियों में उन्हीं लहरों की छोटी-छोटी फुहियाँ हैं। एक-एक नाटक महाकाव्य है, एक-एक कहानी खण्डकाव्य।

प्रसाद के अतिरिक्त राय कृष्णदास ने भी भावात्मक कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियों में विविधता है, प्रसाद की कहानियों में एकरसता। रायसाहब की एक अपनी कथा-शैली है, उसमें नाट्य-कौशल के साथ काव्य-कौशल है। 'अनाख्या' और 'सुधांशु' उनके कहानी-संग्रह हैं। 'सुधांशु' की कहानियों की परिसमाप्ति अपने ढंग की अकेली है।

'कङ्काल' प्रसादजी का प्रथम और सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। कहते हैं, छायावाद का कवि वास्तविकता से अनभिज्ञ केवल भावुक ही होता है। किन्तु 'कङ्काल' तो घोरतम वास्तविक उपन्यास है। उसमें समाज का जो खोखलापन दिखलाया गया है क्या वही काव्य का जीवन बन सकता है! प्रत्यक्ष जगत में भावना के निराधार हो जाने पर कवि कल्पना-जगत से आधार लेने के लिए विवश है। वही आधार प्रसादजी ने अपने नाटकों, कहानियों और कविताओं में लिया है।

'कङ्काल' की छपाई पूरी हो जाने पर मैं देहात चला गया था। मेरी अनुपस्थिति में रायसाहब ने उसका छोटा-सा प्राक्कथन लिखा था, जिसमें उन्होंने प्रसादजी को यथार्थवाद की ओर अग्रसर दिखलाया

था। यथार्थ और आदर्श को लेकर दोनों मित्रों में मतभेद हो गया। प्रसादजी का कहना था कि 'कङ्काल' मे यथार्थवाद नहीं है, वहाँ तो केवल आदर्श का अभाव सूचित करता है। इस विवाद में 'कङ्काल' के प्रकाशन में विलम्ब होते देख कर मैने अपना प्राक्कथन लिखा। प्रसाद जी को वह पसन्द आ गया। मैने लिखा था—

"समाज जिन्हें अपने दुर्बल पैरों से ठुकरा देने की चेष्टा करता है उनमें कितनी महत्ता छिपी रहने की सम्भावना है और आदर्श मान कर जिनका गुणगान करता है उनमें पतन भी हो सकता है। फिर भी चरित्रों के आदर्श और पतन के सम्बन्ध में लेखक ने अपना कोई मत नहीं उपस्थित करना चाहा है, वरन् वर्त्तमान काल की सामाजिक, धार्मिक और सांसारिक मनोवृत्तियों का जो सम्मिश्रित द्वन्द्व चल रहा है, तटस्थ दृष्टि से उसका क्रियात्मक रूप चित्रित कर देने के लिए ही कल्पित पात्रों के चरित्र में तदनुकूल घटनाएँ संघटित कर दी हैं; एवं लक्ष्य-विशेष के लिए 'प्रोपेगैन्डा' न करके, पतन और आदर्श की परिभाषा निश्चित करने का भार पाठकों पर ही छोड़ दिया है।"—इसी प्राक्कथन के साथ 'कङ्काल' प्रकाशित हो गया।......

भारती-भण्डार से मेरी भी एक कविता-पुस्तक प्रकाशित हुई—'नीरव।' उसके बाद रायसाहब के निर्देशन में सूर और कबीर के पदों का संग्रह किया। दोनों ही संग्रह बहुत अनूठे थे, रायसाहब उन्हें स्वरलिपि के साथ प्रकाशित करना चाहते थे।

एक दिन रायसाहब ने रविबाबू का 'शारदोत्सव' अनुवाद करने के लिए दिया। बँगला मैं अच्छी तरह नहीं जानता था। पहिली बार कलकत्ता जाने पर 'मौजी' में काम करते समय केवल उसका वर्णपरिचय प्राप्त किया था। फिर भी मैने 'शारदोत्सव' का अनुवाद कर डाला।

उसके लम्बे-लम्बे गीतों का अनुवाद नहीं कर सका। वह जहाँ का तहाँ रह गया।

शरद ऋतु में ही 'शारदोत्सव' मेरे हाथ में आया था। ऋतु और कृति दोनों ही मेरी भावुकता में भिन कर किशोर-वय की स्निग्ध स्नायुओं में दुग्ध स्रोत की तरह प्रवाहित हो गयी। तभी से ऋतुओं में शरद ऋतु ही मुझे सबसे प्यारी लगती है।

... ...

भारती-भण्डार में काम करते-करते मैं रायसाहब के अन्य मित्रों से भी परिचित हो गया—सर्वश्री बाबू मैथिलीशरण गुप्त, मुन्शी अजमेरी जी, सियारामशरणजी, पण्डित केदारनाथ पाठक।

आज की नयी पीढ़ी को अजमेरीजी और पाठकजी के नाम अपरिचित जान पड़ेंगे, वे स्वर्गीय हो चुके हैं।

मुन्शी अजमेरीजी कवि और काव्यगुरु थे। ब्रजभाषा और खड़ीबोली, दोनों पर उनका अधिकार था। रवि बाबू की 'चित्राङ्गदा' का उन्होंने अनुवाद किया था। 'पुरी का पारावार', 'ताजमहल', 'फतहपुर सीकरी' शीर्षक उनकी स्वरचित कविताएँ उच्चकोटि की हैं। गुप्तजी के वे अन्तरङ्ग बन्धु थे। उन्होंने गुप्तजी के लिए साहित्यिक उत्सर्ग किया था। एक दिन मैंने कहा—मुन्शीजी, सिद्धहस्त कवि होते हुए भी आपने अधिक क्यों नहीं लिखा? उन्होंने कहा—एक तो समय नहीं मिलता, फिर सोचा, भैय्या (गुप्तजी) तो लिख ही रहे हैं।

रचनाओं में ही नहीं, बातचीत में भी मुन्शीजी बड़े सरस और सजीव थे। मुक्तकण्ठ और मुक्तहृदय के मनुष्य थे। उनकी उपस्थिति से निर्जीव वायुमण्डल भी आनन्द से आन्दोलित हो उठता था।

वे बुन्देलखण्ड के चारणों की परम्परा में उत्पन्न हुए थे, अतएव स्वभावतः सभा-कुशल थे। सब जगह उनका सम्मान था। तरह-तरह के अनुभवों से प्रौढ़ होते हुए भी वे बच्चों की तरह सरल और निश्छल थे। हम भाई-बहिन उनके सामने नतमस्तक रहते थे।

पाठकजी सीधे-सादे सामाजिक मनुष्य थे। उनका हृदय बहुत कोमल और प्रेमल था। ढोंग और पाखण्ड से उन्हें बेहद चिढ़ थी। जो उनसे सहज मन से मिलता उस पर हृदय निछावर कर देते थे। वे कहते—'रीझै सरबस देतु है, खीझै दण्ड कठोर।'—स्नेह से सिक्त व्यंग्य ही उनका दण्ड था। कान से वे कम सुनते थे। उनका फक्कड़पन और बहिरापन लोगों के लिए एक कौतूहल बन जाता था। सच तो यह कि जान-बूझ कर वे लोगों का मनोरञ्जन करते थे। यह भी उनके स्वभाव का सारल्य था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकाध्यक्ष के पद से कितने ही कवियों और लेखकों को उन्होंने साहित्यिक सहयोग दिया था। आचार्य्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने साहित्य के इतिहास में उनके प्रति स्नेहाभार प्रकट किया है। वे पुस्तकाध्यक्ष नहीं, सरस्वती-मन्दिर के ब्राह्मण पुजारी थे; मन्दिर की तरह ही उन्होंने पुस्तकालय को भी साधनापीठ बना दिया था।......

प्रसादजी, गुप्तजी और रायसाहब वय-क्रम से साहित्य में मेरे अग्रगण्य तो थे ही, समाज में भी अपनी आर्थिक स्थिति से मेरी अपेक्षा गण्यमान्य थे। मैं था अकिञ्चन ब्राह्मणकुमार, ये लोग थे वैश्य-कुल-भूषण।

प्रसादजी व्यापारिक दृष्टि से सफल न होते हुए भी सुसम्पन्न थे। अकेले पड़ जाने के कारण अपनी आर्थिक उन्नति उतनी नहीं कर सके जितनी साहित्यिक उन्नति।

गुप्तजी भी किसी निर्धन कुल के नहीं थे। सुनते हैं, किसी जमाने में उनके पूर्वजों का बहुत बड़ा कारबार था, बाद में वह ठप हो गया। गुप्तजी अपने पुरुषार्थ से फिर पनप उठे। सरस्वती ही उनके लिए लक्ष्मी भी हो गयी।

रायसाहब बादशाही जमाने के रईस थे। बनारस के धनकुबेरों में उनका प्रमुख स्थान था। किन्तु उनकी अनभिज्ञता के कारण उनका मध्यकालीन वैभव चला गया।

मन में एक प्रश्न उठता है—क्या कोई रोमैन्टिक साहित्यकार धनवान् हो सकता है? जो साहित्यिक रूढियों को नहीं मानता वह आर्थिक रूढ़ियों को कैसे निभा सकता है! इसी लिए सरस्वती और लक्ष्मी का बैर है। रवि बाबू का स्मरण आता है। उन पर सरस्वती और लक्ष्मी दोनों की कृपा थी। किन्तु शान्तिनिकेतन के रूप में जब उनका परिवार विश्वविस्तृत हो गया तब वे भी अर्थ-सङ्कट से त्रस्त हो गये।...

प्रसादजी, गुप्तजी और रायसाहब के त्रिकोण में गुप्तजी का साहित्यिक और आर्थिक जीवन सन्तुलित जान पड़ता है, उनके प्रबन्ध-काव्य और गीतकाव्य की तरह। भावुक की अपेक्षा वे व्यावहारिक अधिक जान पड़ते हैं। उनमें गृहस्थों की सूझ-बूझ और आस्तिकों की समवेदना है।

खद्दर धारण करने के पहिले प्रसादजी दुपलिया महाजनी टोपी पहनते थे, गुप्तजी बुन्देलखण्डी लाल पगड़ी। सम्भवतः सन्' २० के पहिले रायसाहब की वेश-भूषा अंग्रेजी थी। उनका उस समय का एक चित्र गुप्तजी की 'शकुन्तला' के समर्पण में देखा जा सकता है।

ये तीनों मित्र जब आपस में मिलते थे तब वह तीन बड़ों का सामाजिक सम्मिलन जान पड़ता था। कभी-कभी आचार्य्य पण्डित केशवप्रसाद मिश्र भी उस समाज की शोभा बढ़ा देते थे। उनकी उपस्थिति से, उनके कान्ता-संम्मित संलाप से सबका हृदय एक हो जाता था।

बाहरी दृष्टि से उस त्रिपुट (प्रसादजी, गुप्तजी, रायसाहब) में जैसी सामाजिक समानता थी, वैसी साहित्यिक एकता नहीं। इसका कारण 'सरस्वती' और 'इन्दु' के पार्थक्य में मिलेगा। गुप्तजी और रायसाहब द्विवेदी-युग के साहित्याकार है, प्रसादजी छायावाद-युग के अग्रणी कवि। वे साहित्य में अपना एकाधिपत्य चाहते थे।

वे भी मनुष्य ही थे, अतएव मानवीय एषणाओं से मुक्त नहीं थे। एक दिन दुलार से मुँह बना कर, ओठों को हँसी से बिचका कर उन्होने कहा—और-और वासनाओं की तरह अपनी प्रशंसा सुनना भी कानो की वासना है। मनुष्य चाहता है, प्रशंसा करो; चाहे झूठी प्रशंसा करो।

साहित्य में उनकी बहुमुखी प्रतिभा जितनी ही गम्भीर थी, दैनिक जीवन में उनका स्वभाव उतना ही क्रीड़ा-चपल और बच्चों की तरह चुलबुला था। साहित्य और समाज में एक शीर्षस्थान रखते हुए भी उनके व्यवहार में बड़प्पन नहीं था। वे असाधारण होकर भी सर्व-साधारण-जैसे थे। 'विशाख' में उनका एक गीत है—

खेल लो नाथ, विश्व का खेल
राजा बन कर अलग न बैठो
बनो न तुम बेमेल।

इसी तरह वे लोकक्रीड़ा करते थे। छोटे-बड़े सबसे ललक-पुलक

कर मिलते थे, सब में घुल मिल जाते थे, फिर भी सबसे निर्लिप्त रहते थे। उनकी निर्लिप्तता में वही तटस्थता थी जो उनके 'चन्द्रगुप्त' के चाणक्य में। चाणक्य की तरह ही वे सबकी हलचलों में भाग लेते थे, किन्तु स्वयं परोक्ष में रहते थे। आगे नहीं आते थे। वे मन्त्रोपदेष्टा थे। उनकी तटस्थता कुछ इस तरह की थी—'राम झरोखे बैठ के सबका मुजरा लेंय।' 'लहर' की एक कविता में उन्होंने कहा है—

छोटे-से जीवन की कैसी बड़ी कथाएँ आज कहूँ ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मौन रहूँ !

आर्थिक दृष्टि से वे किसी की सहायता नहीं कर सकते थे, अपनी स्थिति में उन्हें जो सुख-सन्तोष था उसमें व्याघात नहीं पड़ने देना चाहते थे। किन्तु जिसे अपना लेते थे उसके लिए कहीं न कहीं कोई न कोई जुगत अवश्य बैठा देते थे।

आर्थिक असुविधा के कारण वे प्रायः बनारस से बाहर नहीं जाते थे। एक बार कुम्भ के अवसर पर अपने परिवार और परिकर के साथ इलाहाबाद जाने के लिए तैयार हुए। एक पूरी लारी मिल गयी थी। मुझसे बोले—तुम भी चलो तो और कुछ नहीं, जगह दे सकता हूँ।

बड़ी कृपा।

इलाहाबाद में उन्होंने कुम्भस्नान नहीं किया, भीड़ से वे घबड़ाते थे। बनारस लौटने पर उन्होंने कहा—अब तुम समझ सकते हो कि बाहर कवि-सम्मेलनों में मैं क्यों नहीं जाता। बिना पूरे समाज को साथ लिये बाहर नहीं जा सकता, इतना खर्च भला कौन उठायेगा !

कवि-सम्मेलनों से उन्हें अनुराग था। बनारस में छोटे-से-छोटे

कवि-सम्मेलन में भी वे भाग लेते थे। ब्रजभाषा के प्रेमियों के बीच समस्या-पूर्ति भी सुनाते थे।

चहल-पहल और राग-रंग में उनका मन लगता था। शिवरात्रि का महोत्सव वे अपने बगीचे में बड़ी धूमधाम से मनाते थे। छोटे-बड़े सभी परिचितों और मित्रों का मेला लग जाता था। लोग भाँग छानते थे और गान-वाद्य का आनन्द लेते थे।

साल में एक बार, शायद जाड़े में, वे सब मित्रों को दावत देते थे। प्रसादजी काव्यकला में ही नहीं, पाककला में भी पारङ्गत थे। उनका व्यञ्जन इतना सादा और स्वादिष्ट होता था कि उनकी दावत को एक सरस स्मृति की तरह रसना याद करती रहती थी।......

राय साहब राजपुरुष थे। 'राय' का ख़िताब मुगल-काल से उनकी वंश-परम्परा में चला आ रहा है। नौकर-चाकर और स्वजन-परिजन उन्हें 'सरकार' कहते थे और शायद अब भी कहते हैं। उनका वातावरण सामन्तवादी युग का था।

उनमें शासन के साथ-साथ गुणग्राहकता और उदारता थी। किन्तु सहृदयता की अपेक्षा बाहर उनकी उष्णता ही दिखाई देती थी। बात यह है कि जमींदारी, कला-भवन और अपने ऊपर लदे हुए ऋण से वे इतने भाराक्रान्त रहते थे कि उनका चैतन्य दब गया था। उसे उज्जीवित करने के लिए किसी संजग वैतालिक अथवा सुयोग्य मन्त्री की आवश्यकता थी।

उनका स्वभाव 'बड़ी दीदी' के सुरेन्द्र से मिलता-जुलता है। शरद ने लिखा है—"गृहस्थ-परिवार की लड़कियाँ मिट्टी का चिराग़ सजाते समय जैसे उसमें तेल और बत्ती डालती हैं वैसे ही उसमें एक तीली भी रख देती हैं। चिराग़ की लौ जब घटने लगती है तब उस मामूली तीली

की बड़ी जरूरत होती है। उसी से बत्ती उसकाई जाती है। उसके बिना तेल और बत्ती मौजूद रहने पर भी चिराग़ बराबर जलता नहीं रहता।"—इस तरह का व्यक्तित्व जब कभी स्वयं ही उद्भासित हो उठता है तो वह आत्मोत्सर्ग की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है।

रायसाहब साहित्य और कला-जगत में रहते हुए भी उसमें नहीं के बराबर थे। अभावों ने उनका दृष्टिकोण सर्वथा आर्थिक बना दिया था। इसी लिए वे अपनी निन्दा-स्तुति से भी उदासीन रहते थे। एक दिन मैंने उनकी किसी रचना की प्रशंसा की। उन्होंने किसी फालतू उपहार की तरह उसे वापस करते हुए परिहासपूर्वक कहा—मेरी प्रशंसा मेरे शत्रुओं से जाकर करो।

गुप्तजी बगल में बैठे थे। उन्होंने मनोविनोद के लिए मुझे सुझाया—कहिये, आप तो 'अजातशत्रु' हैं।

... ...

मुझे साहित्य-क्षेत्र में थोड़ा-बहुत रस मिल जाता, किन्तु समाज में मेरे लिए कोई जीवन नहीं था। जिन साहित्यिक महारथियों के सम्पर्क में आया उनकी सामाजिक (आर्थिक) स्थिति मुझसे अच्छी थी। वे लोग उस ऊँचे वृक्ष की तरह थे जिसकी डाल पकड़ कर मैं झूल नहीं सकता था। मेरी स्थिति निर्जन और निर्धन सर्वहारा से भी अधिक निराधार थी। घोर परिश्रम के बाद साहित्य की सरसता मुझे समाज में नहीं मिलती थी। मैं इकल-विकल हो गया। प्रसादजी के 'आँसू' की पंक्तियाँ याद आती हैं—

इस विकल वेदना को ले
किसने सुख को ललकारा,

वह एक अबोध अकिञ्चन
बेसुध चैतन्य हमारा !

मेरा बेसुध चैतन्य जाग पड़ा। समाजवाद के पहिले ही मुझमें एक सामाजिक असन्तोष व्याप्त हो गया। मेरा स्वभाव विद्रोही हो उठा।

प्रसादजी मुझे सरल और निरीह प्राणी समझते थे। मेरे असन्तोष पर उन्हें आश्चर्य होने लगा। अपने 'इन्द्रजाल' के 'छोटा जादूगर' में उन्होंने मुझे ही लक्ष्य कर लिखा है—"बालक को आवश्यकता ने कितना शीघ्र चतुर बना दिया था। यही तो संसार है!"

प्रसादजी अपनी कहानियों और नाटकों के दृश्य, चरित्र और वार्त्तालाप प्राय: अपने परिचितों के भीतर से सँजो लेते थे। जब मैं उनके यहाँ रहता था तब एक दिन दशाश्वमेध नहाने जाते समय राह में एक भिखारिन बालिका सामने आ गयी। उसके दुधमुँहे उजले दाँतों में शैशव का सारल्य था। मैंने प्रसादजी से कहा—देखिये, इसके दाँतों में कितना भोलापन है! उन्हें मेरी बात जँच गयी। 'भिखारिन' कहानी में उन्होंने लिखा—"अपने दाँतों का भोलापन वह बिखेर गयी।"

उनकी कृतियों में इसी तरह और भी कितने ही शब्द, वाक्य और विचार आपस की बातचीत से समाविष्ट हो गये हैं।

'राज्यश्री' के नये संस्करण में प्रसादजी ने मुझे ही 'शान्ति भिक्षु' से 'विकट घोष' बना दिया है। असन्तोष में विकट घोष होता ही है। किन्तु मैं उनके नाटक का 'विकट घोष' नहीं था, मैं तो गाँव से आया हुआ वही भूखा-प्यासा भावुक बालक तब भी था और अब भी हूँ। सच तो यह कि बालक से भी अधिक बालक हूँ, क्योंकि वय से बालिग होते हुए भी सांसारिक दृष्टि से बिलकुल बोदा हूँ, इसी लिए बालक भी

मुझे अपना खिलौना बना लेते हैं। सारल्य देकर आज भी 'मुच्छन' को देखा-पाया जा सकता है।

प्रसादजी के 'छोटा जादूगर' के जीवन-जैसी ही तो मेरी भी परिस्थितियाँ थीं, और आज उससे भी अधिक आधार-शून्य हो गयी हैं। किन्तु असन्तोष और विद्रोह से मैंने अपने स्वभाव को नीरस नहीं होने दिया। जीने के लिए 'छोटा जादूगर' की तरह मैं भी साहित्य में 'इन्द्रजाल' रचने लगा।......

रायसाहब ने बादशाही जमाने से ऐश्वर्य्य के साथ ही उसका कलानुराग भी पाया था। उन्होंने अपने कला-भवन के चित्रों की तरह ही मुझे भी अपना लिया था। किन्तु मेरी स्थिति तो कुछ सामाजिक संरक्षण भी चाहती थी।

बाढ़ से रायसाहब का प्रासाद बहुत बाद में गिरा, उनका वैभव उसके पहिले से ही स्वप्न होता जा रहा था। आर्थिक आधार के लिए उन्होंने भारती-भण्डार का प्रकाशन आरम्भ किया था। किन्तु व्यापारिक अनुभव के अभाव में उससे अर्थ-लाभ नहीं हो रहा था, इसी लिए नाम मात्र का वेतन भी मुझे समय पर नहीं मिल पाता था। मेरा जीवन तो पहिले ही से अभाव-ग्रस्त था, परिश्रम के अनुसार पोषण न मिलने से शरीर और मस्तिष्क अत्यन्त क्षीण हो गया। नव-किसलय-सी नयी इन्द्रियाँ भूख-प्यास से असमय ही मुरझा गयीं, केवल रक्त-शून्य शिराएँ ही बाहर उभर आयीं। जीवन-पथ दूभर हो गया। जब राह में चलता तब पैर डगमगा जाता। मस्तिष्क गति-शून्य हो गया था।

जैसी मेरी सामाजिक स्थिति थी, वैसी स्थिति में कहीं भी मुझे

जीवन्मृत हो जाना पड़ता। न जाने कहाँ से कहाँ बह जाता! मेरा प्रारम्भिक जीवन रायसाहब से साहित्यिक अस्तित्व पा सका। कृतज्ञ हूँ।

सन्' ३२ के ग्रीष्म में मैंने भारती-भण्डार छोड़ दिया। स्वास्थ्य-सुधार के लिए पुरी और कलकत्ते चला गया। किन्तु मैं रुग्ण नहीं, शोषित था, स्थान-परिवर्त्तन से ही मुझे नवजीवन कैसे मिल सकता था!

...कलकत्ते में मेरा साथ एक भालू के बच्चे से हो गया। मनुष्यों की अपेक्षा उसके अकृत्रिम शैशव से मुझे सुख मिला। सन् १६३८ में उसकी स्मृति में मैंने 'किशोर' में लिखा था—

"कलकत्ता में छः वर्ष पहिले।

एक मकान के तिमंजिले पर मैं ठहरा था। एकदम नीचे आँगन में लकड़ी के बड़े-बड़े बक्स रक्खे थे, किसी व्यापारी के। वह व्यापारी था मेरे कमरे की ही बगल में एक नैपाली कुटुम्ब।

एक दिन सीढ़ियों की ओर जाते हुए देखा, बगल ही में लकड़ी के एक छोटे-से बक्स के पास बैठा है भल्लूक शिशु! जितना बड़ा वह नहीं, उससे कठिन बन्धन है रस्सी का। नैपाली व्यापारी का था वह जीवित सौदा। अब मैंने जाना, नीचे अन्य बड़े बक्सों में इसी के पूर्वज होंगे। अपनी शिशुता से भल्लूक शिशु को स्थान मिला था ऊपर, मानव-परिवार का सामीप्य। शैशव कुछ ऐसा ही प्यारा है।

इतना बड़ा कलकत्ता शहर, किन्तु वह था अकेला, संगी-विहीन। मुट्ठी भर चावल, बित्ते भर की जगह, इतना था उसका संसार। मुझे वह भाया। अब मेरी दिनचर्य्या का अवकाश उसे ही समर्पित था।

नित्य समय से एक दिन जब उसकी ओर पुनः गया तो देखता हूँ—बक्स है खाली। न बन्धन है, न बन्दी। आखिर गया कहाँ?

अपने सहवासी से पूछा। किसी के बचपन पर हँस दी जानेवाली हँसी में उत्तर मिला—"वह जा रहा है, देखो-देखो; अभी शायद नीचे हो।" वहीं से नीचे झाँक कर देखता हूँ, बाहर सड़क पर एक सग्गड़ खड़ा है। दो बड़े-बड़े बक्सों में दो भीपरणतम भल्लूक अपने थुथनों से फूँक मार रहे हैं, उसी पर चढ़ाया जा रहा है उन शिशु को। नहीं चाहता है वह चढ़ना। गिर-गिर पड़ता है। मुसलमान खरीददार के हाथ में है डण्डा।

अरे, आज उसने कुछ खाया नहीं है! दौड़ कर जब तक मैं सड़क पर पहुँचा, तब तक सग्गड़ निकल गया दूर। पास पहुँच कर देखता हूँ उस शिशु-यात्री को। कहाँ जायगा वह! कैसा हो जायगा वह भी!!

मैंने कहा—भाई मियाँ साहब, इसने अभी तक कुछ खाया नहीं है। यह लो पैसे। इसे कुछ खिला देना, अच्छा न, जरूर।

काशी,
२५ अगस्त, १९५२

छायावाद की स्थापना

काशी,
२७ अगस्त, १९५२

कलकत्ते से काशी लौटने पर मेरे सामने फिर आजीविका की समस्या थी। किन्तु उन दिनों अनजान-वय की कुछ ऐसी निर्द्वन्द्वता थी कि वर्त्तमान की जटिलता और भविष्य की चिन्ता मुझे छू नहीं पाती थी। बाहर जीवन न दिखाई देते हुए भी भीतर कुछ ऐसी जीवनी शक्ति थी जो मानों कहती थी—

अभी न होगा मेरा अन्त
अभी अभी ही तो आया है।
मेरे वन में मृदुल वसन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त।

... ...

मेरे जीवन का यह है जब प्रथम चरण,
इसमें कहाँ मृत्यु
है जीवन ही जीवन।
अभी पड़ा है आगे सारा यौवन;
स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक-मन;

मेरे ही अविकसित राग से
विकसित होगा बन्धु दिगन्त—
अभी न होगा मेरा अन्त।
—('परिमल')

वायुमण्डल में हवा रुक जाने पर भी जैसे प्राणी प्रकृति की गतिशीलता से आश्वस्त रहता है वैसे ही मैं भी कहीं कोई आधार न दिखाई देने पर भी शून्य में आशान्वित रहता था।......

उद्यान में घूमते हुए जैसे भावुक पर्य्यटक कुछ फूल-पत्तों से परिचय प्राप्त कर लेता है वैसे ही मैंने भी बनारस में कुछ किशोर हृदयों से अपनापन जोड़ लिया था। उन्हीं में से एक था हरिदत्त जोशी। स्कूल का पढ़ना छोड़ कर वह इधर-उधर निठल्ला घूमता रहता था। लोग उसे आवारा और दुश्चरित्र कहते थे। लेकिन वह था मनमौजी और फक्कड़। किसी की परवाह नहीं करता था। अभी उसकी उम्र ही क्या थी! किशोर-वय की रंगीन लहरियों में सपने लेता रहता था। अपनी उमंग में खूब गप्पें मारता था। ऐसा ज़िन्दादिल था कि उसकी बातों से मनहूसियत और मुर्दानगी छू-मन्तर हो जाती थी।

वह भी किसी माँ का लाल था। किन्तु समाज में उसके लिए कहीं स्थान नहीं था। जिस अमीर के यहाँ रहता था उससे भी वह संघर्ष करता था। बात यह थी कि बुढ़ापे में भी अमीर तो विलासिता करता था और यह नवल किशोर आत्मविकास के लिए जीवन के अनिवार्य्य साधन भी नहीं पाता था। इस सामाजिक वैषम्य के कारण वह विद्रोही हो गया।

मुझे वह अपना बड़ा भाई कहता था। एक दिन बोला—बड़े भाई, मैंने फिर स्कूल में नाम लिखा लिया है।

मुझे आश्चर्य हुआ कि किसी वन्धन में न बँधनेवाला यह बालक फिर पढ़ाई के चक्कर में कैसे पड़ गया !

मैंने कहा—चलो, मैं भी तुम्हारा स्कूल देखूँगा ।

वह था लक्सा का कोचिंग इन्स्टीट्यूट । सेन्ट्रल हिन्दू स्कूल के कुछ अध्यापकों ने एडमिशन की प्राइवेट परीक्षा देनेवाले छात्रों के लिए उसे खोला था । हरिदत्त के साथ जाकर मैं भी विद्यार्थियों के बीच सिकुड़ कर बैठ गया ।

बाहर आने पर मैंने उससे कहा—मुझे भी यहाँ हिन्दी पढ़ाने का काम दिला दो न ।

हरिदत्त उत्साहित हो उठा ।......

.... और सचमुच मुझे वहाँ अध्यापन-कार्य्य मिल गया । जीवन में पहिली बार मैं अध्यापक बना । मुझे डाक्टर गोडबोले के यहाँ ट्यूशन भी मिल गया । आर्थिक सुविधा और नियमित आहार-विहार से धीरे-धीरे मेरा स्वास्थ्य सुधरने लगा । बनारस के वे दिन सुखद हो गये । दो अन्य पर्वतीय मित्रों का स्नेह-साहचर्य्य मिला—आदरणीय मित्र श्री विश्वेश्वरप्रसाद कोइराला और श्री भगवतीप्रसाद चन्दोला, मेरे उसी समय के साथी हैं ।

एक और स्नेह-सरल शिशु याद आता है—गोविन्दनारायण वैष्णव । वह इलाहाबाद में क्रिश्चियन कालेज में पढ़ता था, कभी-कभी मित्रों से मिलने-जुलने बनारस आया करता था । अन्तिम बार जब उससे भेंट हुई तो बोला—अब कब मिलेंगे ? मैंने कहा—इसे एक पहेली रहने दो ।

उससे मिलना सचमुच एक पहेली हो गया।

१० मई सन्' ३२ के पत्र में कर्णप्रयाग (गढ़वाल) से उसने लिखा था—

'कब मिलेंगे ?'—मैंने पूछा था।

'इसे एक पहेली रहने दो।'—आपने ये शब्द अपने स्वाभाविक मृदुल स्वर से कहे थे। वास्तव में मिलना एक पहेली ही हुआ।

जो भी हो—इस बीच आप मुझे बहुत याद आये!......इसी लिए अपने विषय में कुछ लिख रहा हूँ।

मै संसार के एक कोने में एक अकर्मण्य की भाँति पड़ा हूँ। कब तक ?—यह 'वही' जाने।......

वह हँसमुख सुशील बालक खेलने-खिलने के पहिले ही इस संसार से चल बसा!—

फूल तो दो दिन बहारे जाँ फ़िज़ा दिखला गये।
हसरत उन ग़ुचों पे है जो बिन खिले मुरझा गये॥

पार्वत्य प्रदेश का मैं आभारी हूँ। वहीं के स्वास्थ्य, सौन्दर्य और सौहार्द से समाज और साहित्य में मैंने जीवन पाया है।

... ...

उस वर्ष एडमिशन की परीक्षा में मेरे ही छात्रों ने हिन्दी में विशेष नम्बर पाया। मैं था कवि और लेखक। अध्यापन मेरा मुख्य कार्य्य नहीं था। किन्तु उसी को निमित्त बना कर विधाता ने मेरे जीवन के

कथानक को कहाँ-से-कहाँ मोड़ दिया! दूसरे वर्ष (सन्' ३३ में) एक महाराष्ट्रीय नवयुवक से परिचय हो गया। उनकी भावी पत्नी को पढ़ाने के लिए मुझे बनारस छोड़ देना पड़ा।......

सन्' ३४ से मैं इलाहाबाद में रहने लगा। यह प्रवास साहित्यिक दृष्टि से मेरे लिए शुभ हो गया। प्रयाग मुमुक्षुओं का ही नहीं, साहित्य के साधकों का भी संगम है। वहाँ के वातावरण में कुछ ऐसी नैसर्गिक स्फूर्त्ति है कि मनुष्य की क्रियाशक्ति बढ़ जाती है। अध्यापन-कार्य्य के बाद मैं फिर साहित्यिक कार्य्य करने लगा। जीवन के प्रारम्भ में जो साहित्य मेरे लिए स्वान्तःसुखाय था, अब वही मेरी आजीविका का भी अवलम्ब हो गया। जो कुछ लिखता उसे एक श्रमजीवी शिल्पी की तरह दैनिक 'भारत' में प्रकाशनार्थ दे आता।

दैनिक 'भारत' के सम्पादक उन दिनों स्वर्गीय पण्डित केशवदेव शर्म्मा थे। वे अध्ययनशील कुशल पत्रकार थे। उनकी रुचि साहित्यिक थी। 'भारत' को साहित्यिक दृष्टि से भी आकर्षक बनाने के लिए वे मेरे लेखों को प्रकाशित कर देते थे।

एक दिन मैंने टाल्स्टाय की 'अन्ना' पर छोटा-सा लेख लिखा। उस महान कलाकार की महान कृति पर कुछ लिखना मेरे लिए बौने के प्रयास-जैसा था। मन में सकुचाता हुआ अपना लेख लेकर शर्म्माजी के पास पहुँचा। उस समय वे अत्यन्त कार्य्यव्यस्त थे। मुझे आशा नहीं थी कि लेख देखेंगे, पसन्द करेंगे, छापेंगे। थोड़ी देर बाद उन्होंने कहा—लाइये, आपका लेख देखें। मैंने एक परीक्षार्थी की तरह अपना लेख उन्हें दे दिया। वे उसे पढ़ने लगे, मैं उन्हें पढ़ने लगा। कुछ पंक्तियाँ पढ़ने के बाद शर्म्माजी प्रसन्न होकर कुर्सी से उछल पड़े। बोले—इसमें आपने एक ऐसी मार्म्मिक बात कह दी है, जो अभी तक किसी ने नहीं कही।

बड़े टाइप में छापने के लिए उन्होंने लाल पैन्सिल से कुछ वाक्यों को रेखाङ्कित कर दिया। मैंने लिखा था—"सदाचार और आदर्श को हम लोगों ने अपनी-अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्त्ति का एक सुन्दर साधन बना दिया है, न कि सामाजिक जीवन को सुखद बना देने का अवलम्बन। यही कारण है कि जीवन के पथ में जब कोई व्यक्ति फिसल जाता है तो हम इसलिए नहीं खीझ उठते कि वह आदर्श-च्युत हो गया, बल्कि इसलिए खीझ उठते हैं कि इतनी सुविधा लेकर यह हमारे अनदेखे ही इतना सुखी क्यों हो गया! नैतिकता की दुहाई देकर हम उसकी चाहे जितनी भर्त्सना करें, परन्तु उसके मूल में अज्ञात रूप से हमारी ईर्ष्या ही अपना काम करती है। और इस प्रकार एक की दुर्बलता के साथ हम अपनी भी एक दुर्बलता के संघर्ष का कुत्सित आनन्द लेते हैं।"—('साहित्यिकी')।

उस लेख के बाद मैं शर्म्माजी का विशेष कृपापात्र बन गया। सन्' ३४ में उन्होंने मुझे 'भारत' के सम्पादकीय विभाग में ले लिया।

भारती-भण्डार में काम करते समय पटना के ग्रन्थमाला कार्य्यालय से मैंने कुछ अग्रिम पारिश्रमिक लिया था, एक पुस्तक लिख देने के लिए। मेरा स्वास्थ्य अभी ठीक नहीं हो सका था। बार-बार याद दिलाने पर पुस्तक लिखने के लिए विवश हो गया। मैं दुहरा परिश्रम करने लगा—घर पर पुस्तक लिखता, दोपहर में 'भारत' जाता।

सम्वत् १९९१ (सन्' ३४) में ग्रन्थमाला कार्य्यालय से 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' प्रकाशित हुआ। वही मेरा पहिला आलोचनात्मक ग्रन्थ है। हाईस्कूल के लिए वह सहायक पाठ्यग्रन्थ बन गया। साहित्य की नयी पीढ़ी में उसका अच्छा प्रचार हुआ। स्कूलों, कालेजों और युनिवर्सिटियों के बहुत-से हिन्दी-अध्यापक उसे अपनी छात्रावस्था में पढ़

चुके हैं। सच तो यह है कि आचार्य्य शुक्लजी के साहित्य के इतिहास के बाद नये साहित्य, विशेषतः छायावाद की कविता का मर्म्मोद्घाटन पहिले-पहल उसी पुस्तक के द्वारा हुआ। नवयुवक लेखकों ने उसी से निबन्ध लिखने का अभ्यास किया। बाद में उसी पुस्तक का अनुकरण कर व्यावसायिक लेखकों ने बाजार अपने हाथ में ले लिया।

बनारस में मैं छायावाद की कविताओं पर भावात्मक लेख लिखता था। पन्त की भाषा और रवीन्द्रनाथ की शैली का मुझ पर प्रभाव था। इलाहाबाद आने पर मैंने शुक्लजी के ग्रन्थों को भी पढ़ा। 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' में मैंने भावात्मक और शास्त्रीय समीक्षा का समन्वय कर दिया। इसके बाद कविता के भीतर से कवि के जीवन का मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक विश्लेषण भी किया। मेरी पुस्तकों में आलोचना का दृष्टिकोण उत्तरोत्तर व्यापक होता गया है। किन्तु बुनियादी दृष्टि सांस्कृतिक है। रोमैन्टिक होते हुए भी मेरी संस्कृति पुरातन अथवा सनातन है। छायावाद की कविता में भी तो अभिव्यक्ति (कला) नयी है, संस्कृति पुरानी है। प्रकृति के सम्पर्क में जिस जीवन और साहित्य का उद्भव होगा उसका स्वरूप ऐसा ही होगा।

समालोचना का विशद दृष्टि कोण तो मुझे अध्ययन, मनन और चिन्तन से मिला, किन्तु छायावाद का अन्तःकरण स्वतः मेरे जीवन से ही सुलभ हो गया था। पिता का तापस संस्कार, स्वामी राम का भावात्मक अध्यात्म, बहिन की सांस्कृतिक गृह-साधना, और मेरी बालवय की प्राकृतिक रमणीयता, इन सबने मिल कर मुझे छायावाद का अभिव्यञ्जक बना दिया।

प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी की रचनाओं से छायावाद ने साहित्य में अपना स्थान बना लिया था, किन्तु उसका रचनात्मक पक्ष

सुस्पष्ट नहीं हो रहा था। आचार्य्य शुक्लजी ने छायावाद को 'स्वच्छन्दता वाद' कहकर मानों उसका उपहास कर दिया था। सबसे पहिले मैंने ही 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' में छायावाद और रहस्यवाद का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया—

"द्विवेदी-युग में शुक्ल जी जिस मैटर ऑफ फैक्ट का निर्देश कर चुके हैं, ठीक उसी की दूसरी दिशा (अन्तर्दिशा) में छायावाद है, जो वस्तुओं की इतिवृत्तात्मकता को न लेकर केवल उसकी जीवनस्पर्शिता को ग्रहण करता है। इतिवृत्तात्मकता बहुत कुछ विज्ञान के समीप रहती है और जीवनस्पर्शिता या छायावाद, भाव के समीप। मैटर ऑफ फैक्ट का सम्बन्ध यदि स्थूल शरीर से है तो छायावाद का सूक्ष्म आत्मा से। इतिवृत्तात्मक दृष्टि का लेखक एक पुष्प के सर्वाङ्ग का वर्णन करेगा, किन्तु जीवन का छायावादी कवि पुष्प के भीतर से उस प्राणमय स्पन्दन को अपनायेगा जो उसके साथ आत्मीयता स्थापित किये हुए है।

जिस प्रकार मैटर ऑफ फैक्ट के आगे की चीज छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद के आगे की चीज रहस्यवाद है। छायावाद में यदि एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा का आत्मा के साथ सन्निवेश है तो रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है तो दूसरे में अलौकिक। एक पुष्प को देख कर जब हम उसे भी अपने ही जीवन-सा सप्राण पाते हैं तो यह हमारे छायावाद की आत्माभिव्यक्ति है, परन्तु जब उसी पुष्प में हम एक किसी परम चेतन का विकास पाते हैं तो यह हमारी रहस्यानुभूति हो जाती है।"—इन्हीं विचारों को मैंने 'कवि और काव्य' में दृष्टान्त दिया। अपनी इधर की पुस्तकों में छायावाद पर व्यावहारिक (आर्थिक) दृष्टि से भी विचार किया।

... ...

कहते हैं, प्रयाग की त्रिवेणी में सरस्वती अदृश्य है। उसी की तरह, मेरी सरस्वती साकार होकर भी, मुझसे दूर देहात में ओझल थी। देहात के सामाजिक सहयोग का स्थान जैसे आधुनिक अर्थशास्त्र ने ले लिया, वैसे ही वहाँ के स्वाभाविक शिक्षण का स्थान वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली ने छीन लिया। बहिन की पाठशाला चल नहीं सकी। मेरे अनुरोध से वह प्रयाग आ गयी। त्रिवेणी की सरस्वती मुझे उसी में मिल गयी।

उन दिनों हिन्दुस्तानी एकाडेमी के 'पड़ोस में सुदर्शन' भवन में रहता था। वहीं 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' लिखा। वह स्थान जन-सङ्कुल था। जब बहिन आयी तो ग्रीष्मावकाश के कारण वहाँ शान्त एकान्त था। इसके बाद लीडर प्रेस के सहृदय जनरल मैनेजर बाबू विश्वनाथप्रसाद जी ने तपती धरती पर पैदल चल कर लूकरगंज में मुझे एक नया सुरम्य स्थान दिला दिया। उस स्वर्गीय आत्मा को बहुत-बहुत साधुवाद!

......सुदर्शन भवन को छोड़ते हुए मेरा मन मोहाभिभूत हो गया। यहीं मेरे साहित्यिक जीवन का विधिवत् श्रीगणेश हुआ। हम भाई-बहिन तो यहाँ थे ही, गणेश जी के वाहन का एक शिशु भी अपनी सरलता-चञ्चलता से घरेलू प्राणी बन गया था। उसकी निरीह आँखों में ऐसी मानवीयता थी कि उसे छोड़ने को जी नहीं चाहता था। मैंने बहिन से कहा—हम लोग तो चले जायँगे, और यह......

बहिन ने वात्सल्य से उसकी ओर देख कर मुस्करा दिया।

'किशोर' में मैंने उसकी स्मृति में लिखा—

"मै था, मेरी बहिन।

दो वर्ष पहिले मैं जहाँ रहता था उस कोठरी में चूहे का एक छोटा-

सा बचा कमरे को प्लेग्राउन्ड बना कर खूब खेला करता था। उसका नन्हा-सा शरीर, उसका भोला-भाला मुँह, उसकी चपल गति, मुझे याद दिलाती थी मनुष्य के बचपन की। लेकिन नहीं; मनुष्य के बचपन से भी वह अधिक निरीह, अधिक सुकुमार, अधिक अबोध था। मैं देखा करता, किस तरह वह अपनी न दिखाई देने वाली दँतुलियों से अन्न के कन कुटकुटाता था; तनिक-सा मुँह, तनिक-सा कन, तनिक-सा वह! जी चाहता, आँखों में रख लूँ।

एक दिन दूसरे मकान में रहने के लिए जाना पड़ा। कमरे को करना होगा खाली। रोज की तरह वह उसी तरह खेलता रहा। क्या हाथ बढ़ा कर प्यार कर लूँ? ना, वह इस प्रदर्शन को क्यों चाहे! प्रेम है मूक।.........

आखिर मैं चला गया, दूसरे मकान। कमरा हो गया खाली। जाने के दिन मैंने उसकी चावल से भी छोटी आँखें देखी थीं। उनमें थी एक अनजान करुणा। ....

दूसरे दिन सूने कमरे में उसी तरह घूम-घूम कर क्षणभर उसने सोचा होगा—कहाँ गये रे, वे दोनों भाई-बहिन !!"

काशी,
२९ अगस्त, १९५२

'नीरव' और 'हिमानी'

काशी,
३० अगस्त, १९५२

सन् १९२४ से सन् १९३४ तक मेरी लिखी दो कविता-पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है—'नीरव' और हिमानी'। ये दोनों पुस्तकें मेरे ही कलेवर की तरह दुबली-पतली है।

'नीरव' में निरालाजी के 'परिमल' और पन्तजी के 'पल्लव' का प्रभाव है, 'हिमानी' में 'गुञ्जन' का। उसके बाद जीवन की नीरसता में मेरा काव्य-स्रोत सूख गया। कहते है, असफल कवि सफल समालोचक हो जाता है। क्या सचमुच!

'नीरव' और 'हिमानी' मे कई तरह की कविताएँ हैं, किन्तु उन सबमें सौन्दर्य्य की प्रधानता है। मैं सौन्दर्य्योपासक हूँ। 'मलयानिल' से मैंने कहा है—

तुमने अब तक देखी होगी
कितनी शोभा, सुन्दरता,
अहो कहीं तो रीझी होगी
रसिक, तुम्हारी भावुकता—

कहो कहाँ है त्रिभुवन-भर में
वह अनुपम सौन्दर्य्य महान ?
जिसका बनूँ उपासक मैं भी
करूँ उसी का अपलक ध्यान।
—('नीरव')

बचपन में प्रकृति की जिस लता और कुसुम से मैं परिचित था उसे ही मानवीय सुषमा में देखने लगा। 'नीरव' की 'लता सुहागिन' में किसी ग्रामवासिनी बालसङ्गिनी को सम्बोधित कर मैंने कहा है—

अभी-अभी सखियों से हिलमिल
खेल रही थीं तुम सरले !
सहसा कैसे सीख गयी हो—
मिलना प्रिय से ललक गले ?

किस आकर्षण ने प्रियतम से
सजनि, कराया तव परिचय ?
बाल-सहचरी होकर भी मैं
देख न पायी शुभ परिणय !

... ...

फूलो-फलो सदा ही सङ्गिनि !
प्रियतम के प्राणों में भूल,
पर, बचपन की सखियों को तुम
आली ! कभी न जाना भूल।
—('नीरव')

प्रकृति की तरह ही मैं मनुष्य को भी प्रफुल्ल देखना चाहता हूँ।

फूल की तरह खिल कर फिर उसी की तरह मुरझा जाते किसी किशोर-मुख की ओर देख कर मैं उच्छ्वासित और विगलित हो उठा हूँ—

...किन्तु हाय, क्यों दो दिन में ही
तुम भी मुरझा चले अहो,
किस विषाद से, किस अभाव से,
मुझसे भी कुछ कहो-कहो !

मेरी आँखों में हैं जब तक
जल की ये बूँदें दो-चार,
कैसे मुरझा जाओगे तुम,
ऐ मेरे प्रियतम सुकुमार।
—('हिमानी')

सौन्दर्य्य की दृष्टि से शैशव और कैशोर्य्य मुझे प्रिय है, उसमें हृदय का सारल्य मिलता है।

मेरा कवि-हृदय स्वयं भी चिरशिशु, चिरकिशोर है। विश्वजननी प्रकृति के चरणों में मेरी लघिमा ही आत्मनिवेदन कर रही है—

मा ! मैं लघु-से-लघु होकर भी
तेरी महिमा दिखलाऊँ,
एक तारिका बन कर, तेरी—
शशि-छवि अधिक बढ़ा जाऊँ !

तेरी वीणा के तारों में
एक गीति बन मँडराऊँ,
तेरी ही बन एक रागिनी
लय अनन्त में हो जाऊँ !

तेरे ही इस प्रेम-सिन्धु की
एक वीचि बन लहराऊँ,
तेरी ही लीला दिखला कर
फिर तुझमें ही मिल जाऊँ।

मा! तेरे सौरभ के वन में
एक कली-सी खिल जाऊँ,
तेरी ही माला में गुँथ कर
मैं पूजा में चढ़ जाऊँ।

—('हिमानी')

सृष्टि में जहाँ कहीं लघुता, शिशुता दिखाई देती है वहाँ मुझे अपनी ही अनुरूपता मिल जाती है। इसी लिए 'तितली' के साथ मेरी आत्मा भी बालिका बन जाना चाहती है—

तितली! तितली! मुझको भी तो
दे दो अपनी चञ्चलता,
दे दो, दे दो, हाँ सखि, मुझको
अपनी प्यारी कोमलता।

वन-वन विहरण करूँ तुम्हीं-सी
एक बालिका बन छविमय,
फूली नहीं समाऊँगी मैं
खेलूँगी निशिदिन निर्भय।

किन्तु सजनि, निज शोभा देकर
मुझे न देना अपनी दाह,
कभी न धधकै प्रेम-अग्नि वह
जिसमें उठती रहती आह।

—('नीरव')

'नीरव' और 'हिमानी' मे यौवन का प्रेमोन्मेष भी है। जिन कविताओं में मेरी बाल्यरुचि है उनकी अपेक्षा शृङ्गारिक कविताओं में भाषा, भाव और शैली की दृष्टि से वयोचित परिपक्वता है। 'अधखिली कली से', 'यमुने', 'दिवाली', 'पद-अङ्क' इत्यादि कविताएँ रसिक पाठकों को रुचेगी। इन कविताओं में पुरुष का प्रणय नही, प्रेमिका का हृदय है। नवोढ़ा नववधू कहती है—

सुनती थी मै तो—
प्रिय की सुख-छाया में
प्यार से,
दुलार से,
खिलते है नारियों के अङ्ग-अङ्ग
बहती उमङ्गभरी सुख की मदिर तरङ्ग
किन्तु हाय,
मेरे तो अङ्ग-अङ्ग
सोच से
विह्वल सङ्कोच से
ढीले हो रहे है आज
हाय-री सुहाग-लाज !
—('नीरव')

शृङ्गार रस की अपेक्षा मेरी कविताओं में शान्त, करुण और वात्सल्य रस अधिक हैं, ये मेरे जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं। बचपन को भावना का आधार मिल गया था, इसलिए वही हृदय में टिक गया; यौवन को कोई ठोस आधार नही मिला, वह राह से ही लौट गया। उसके स्थान पर वर्त्तमान दुर्भिक्ष-युग के पहिले ही अकाल-वार्द्धक्य आ गया।

मानव-जगत से वञ्चित हो जाने पर मैंने प्रकृति के एकान्त में ही अपने सन्तप्त हृदय को सान्त्वना दी है—

सूने दिगन्त में बार-बार
मैं रह-रह कुछ उठता पुकार

निज व्यथित हृदय का व्यथित भार
रे, किसके उर में दूँ उतार ?

उस पार खड़े वे तरु अपार
हैं मुझे रहे अपलक निहार

इस पार भग्न है यह कगार
मुझसा ही मानो निराधार !

बह रही बीच में सरित-धार
ज्यों सजल-हृदय में सजल-प्यार

बह चलें इसी के साथ-साथ
चिर दुखमय ये आँसू अनाथ ।

—('हिमानी')

जीवन की करुण अनुभूति ने मुझे संवेदनशील बना दिया। मेरी सहानुभूति भेद-भाव भुला कर उन सभी जड़-चेतन और निर्धन-सम्पन्न दुखियों के साथ समरस हो गयी जो मेरी ही तरह अपनी वेदना में अभिशप्त हैं। 'बंशी' के सुरीले लय में भी मुझे उसका क्रन्दन सुनाई देने लगा—

अहो तुम भी रोती हो आज, व्यथा के गाकर व्याकुल गान
कहो किस निर्दय ने सुकुमारि ! तुम्हारे बँधे हैं ये प्रान ?

व्यथा में भी है भरी मिठास, तभी तो मृदुमधुमय हैं गान,
किसी की क्रन्दन-ध्वनि भी हाय, सुरीली बन जाती है तान।

—('नीरव')

ग्रीष्म में तपती बालुका की ओर भी मेरी दृष्टि चली गयी है—

री पददलिते! चूर्ण हुए-से
बिखरे हैं क्यों तेरे गान?
बता, बता, अयि विकल बालुके!
जलते हैं क्यों तेरे प्रान?

—('नीरव')

प्रवाहिणी के तट पर बालू के बिखरे कणों में मुझे आत्मसादृश्य मिला है। एक ओर जीवन लहरा रहा है, दूसरी ओर सैकत-कण चातक की तरह ही अतृप्त हैं—

उस सूखे सूने तट पर
बिखरे हैं बालू के कण,
क्या टूटे हुए हृदय-से
गिनते वे जीवन के क्षण?

*   *

रे एक बूँद जीवन की
दे सका न क्या उनको घन?
चिरसजल-स्नेह से वञ्चित
मुझसा ही क्या उनका मन!

—('हिमानी')

मेरी सहानुभूति उस 'ताजमहल' के साथ भी है जो अपने ऐश्वर्य्य में भी सुखी नहीं है—

कहता है पूर्णेन्दु, ताज से—
'ऐ वसुधा के शिशु सुकुमार!
इस अनन्त में आओ, हम-तुम,
करें एक ही साथ विहार!

तब सन्ध्या का मौन भङ्गकर
सुन पड़ता कुछ हाहाकार,
व्यथित ताज के रुद्धकण्ठ में
यह कैसा है करुणोद्गार!—

'नहीं बन्धु, मेरे गृह में तो
सोये हैं दो व्याकुल प्राण,
अभी न सूखे हैं उन प्यासी
आँखों के आँसू अम्लान!'

यह सुन नभ के पलकों में भी
छा जाता है मौन-रुदन,
ताजमहल के उद्यानों में
बिखरे आँसू के कन-कन!

* *

फैला देता है शशि, अपनी—
धुली चाँदनी का साया,
युगल प्रेमियों की समाधि पर
मानों करुणा की छाया!

—('हिमानी')

'ताज' को देख कर मैं रास्ते की मोहताज 'भिखारिणी' को भूल नहीं गया हूँ—

धूलि-धूसरित जीवन-पथ में
कब से बैठी तू बाले !
कब से सने हुए हैं रज में
तेरे ये कुन्तल काले !

* *

कहाँ गया सङ्कोच दृगों का
कहाँ कमल-मुख की वह लाज !
दो दानों पर पिक-सी बानी
लुटा रही तू क्यों यों आज ?

* *

अरी, छिपा ले अपने मुख से
कुटिल काल की रेखाएँ,
निठुर जगत कब पढ़ सकता है
इनमें धुँधली गाथाएँ !

—('हिमानी')

जिस प्रकृति का मनोहर सौन्दर्य्य मैंने मनुष्य में देखा था, 'भिखारिणी' से फिर उसी प्रकृति की ओर लौट चलने के लिए अनुरोध करता हूँ—

जगती के निर्म्मम पथिकों से
सखि ! रखती हो कैसी आश ?

अपने गीले अञ्चल में तुम
पाओगी केवल उपहास !

छोड़ो उनकी मिथ्या आशा
आओ चलें प्रकृति के देश,
वहीं पूर्ण होगी अभिलाषा
जग को दे दो जग का क्लेश।

* *

वहीं लौट कर चला गया है
यह सुख-सुषमा का संसार
जहाँ खेलता-खिलता रहता
जननि प्रकृति का शिशु-परिवार।

चलो, चलो, हम वहीं चलें फिर
लेकर अपनी क्षीण पुकार
नदियों से हम पानी माँगें
वसुधा से चावल दो-चार।
—('हिमानी')

यह सन् १९३० की रचना है। उस समय 'अधिक अन्न उपजाओ' का आन्दोलन नहीं आरम्भ हुआ था। आज अकाल-निवारण के लिए 'नदियों से पानी' और 'वसुधा से चावल दो-चार' की माँग चारों ओर हो रही है। हमें फिर प्राकृतिक उद्यम (कृषि) का आश्रय लेना पड़ रहा है।

कवि का विश्वास है कि प्रकृति के क्षेत्र में जाकर अभाव फिर

भाव बन जायगा। इसीलिए 'भिखारिणी' को मैंने यही परामर्श दिया है—

कलियों से निज शैशव माँगें
मधु से यौवन का उच्छ्वास,
शरच्चन्द्रिका हमको देगी
जीवन का चिरस्निग्ध-प्रकाश।

मलयानिल से चलो माँग लें
दिग्बालाओं के प्रिय गान,
बैठ किसी निर्झरिणी-तट पर
छेड़ें अपनी शीतल तान।

—('हिमानी')

प्रकृति के सान्निध्य मे जब कृषि का विकास होगा तब जीवन फिर कृष्ण-युग की तरह काव्य-सरस हो जायगा। यही मेरा सामाजिक स्वप्न है।

काशी,
१ सितम्बर, १९५२

योगायोग

काशी,
२ सितम्बर, १९५२

सन् १९३५ में 'भारत' का काम छूट गया। अच्छा हुआ, क्योंकि यान्त्रिक कार्य्य से मुक्त होकर मैं फिर साहित्यिक क्षेत्र में एकाग्र हो गया।

बड़े दिनों की छुट्टियों में मेरे कतिपय पर्वतीय छात्रबन्धु शान्तिनिकेतन और कलकत्ता जा रहे थे, उनके अनुरोध से मैं भी उन लोगों का सहयात्री हो गया।

काशी में मैंने रवि बाबू को एक गीतकवि के रूप में देखा था, शान्तिनिकेतन में वे गुरुदेव के रूप में दिखाई दिये। प्रार्थना-मन्दिर के प्रवचन में उनके कण्ठ का ओजस्वी स्वर सुनाई दिया, मानों अन्तर्य्यामी अन्तर्नाद कर उठा हो

कलकत्ते पहुँच कर इस बार मैं शरद बाबू के दर्शनों के लिए लालायित हो उठा। मँझली दीदी, बड़ी दीदी, अरक्षणीया, परिणीता, दत्ता, देवदास, श्रीकान्त और चरित्रहीन में जिन मर्म्मस्पर्शी चरित्रों की अवतरणा हुई है उन चरित्रों के चित्रकार को देखने की इच्छा का होना स्वाभाविक ही था। वही तो उन चरित्रों का सामाजिक सङ्गम था, वही तो उन बिखरे नक्षत्रों का शरच्चन्द्र था।...

शरद बाबू के दर्शनों के लिए मुझे बहुत दिन रुकना पड़ा। वे कलकत्ते से दूर पानत्रास गाँव में रहते थे, उस अनजान स्थान तक मैं पहुँच नहीं सकता था। जब वे कलकत्ते आये तो रुग्ण थे। उन्होंने मुझे मिलने के लिए तीन बाद का समय दिया, लेकिन इलाहाबाद के नागरिक वातावरण में बहिन अकेली थी, परदेश में उसे छोड़ कर अब और कब तक रुक सकता था! दिये हुए दिन के पहिले ही मैं शरद बाबू के यहाँ जा पहुँचा। बँगला से अनभिज्ञ होने के कारण मैंने विजय को साथ ले लिया था।

......शरद बाबू को अपने आने की सूचना भेज कर मैं नीचे एक कुर्सी पर बैठा-बैठा नतमस्तक होकर उन्हीं का ध्यान करने लगा। मन ही मन उनकी रूप-रेखा बनाने लगा। लेकिन मेरी सूचना मिलते ही वे नीचे आकर मेरी बगल में खड़े हो गये थे और विजय से बातें कर रहे थे। मैं उनके ध्यान में इतना तन्मय था कि उनकी उपस्थिति का आभास नहीं पा सका। मुझे क्या पता कि जिनके स्वरूप की कल्पना कर रहा हूँ वे स्वयं सामने हैं। देर तक उनका चिन्तन करते-करते जब अधीर होकर सिर ऊपर उठाया तो उन्हें प्रत्यक्ष देख कर हड़बड़ा उठा। ललक कर उनके चरणों का स्पर्श कर लिया, मानों उन्हीं की कथाकृतियों के किसी पात्र ने पृथ्वी से उठ कर अपने क्षितिज को छू लिया।

शरद बाबू बाहर जाने के लिए जल्दी में थे, उनसे अधिक बातें नहीं हो सकीं। वे हिन्दी बहुत अच्छी बोलते थे। बिना किसी मध्यस्थ के यदि उनके दिये हुए समय पर मैं उनसे मिलता तो उनका ममत्व पा जाता।

......वही भेंट अन्तिम भेंट हो गयी। एक वर्ष बाद ही उनका देहान्त हो गया। संसार से तिरोहित होने के पहिले मैं उन्हें देख सका;

यह मेरा साहित्यिक सौभाग्य है। उनका मुखमण्डल सुडौल और सुशोभन था। आश्चर्य्य होता है कि संघर्ष और वैषम्य में भी यह कलाकार सुदर्शन कैसे रह सका! यही तो आत्मसाधना है।

उन कुछ क्षणों के साक्षात् में मैं उस तपोमुख कलाकार का मूर्त्ति-दर्शन ही कर सका, उसकी आत्मा अमूर्त्त ही रह गयी? नहीं, वह तो आज भी उसकी कृतियों में सजीव और साकार है।

... ...

कलकत्ते के उस प्रवास में मुझे 'कवि और काव्य' लिखने की प्रेरणा मिली। जीवन तो गद्यवत् शुष्क था, किन्तु हृदय काव्य-कलित था। वह मरुस्थल में ओएसिस की तरह था।

इलाहाबाद आकर मैं 'कवि और काव्य' लिखने लगा, किन्तु मेरी परिस्थिति तो शरद के कथा-साहित्य के किसी निःसहाय कुटुम्ब की-सी थी। बहिन के सान्निध्य में मेरा पारिवारिक दायित्व बढ़ गया था। नौकरी नहीं, खेती नहीं, दूकानदारी नहीं, अपना घर-द्वार नहीं। क्या पहिले की तरह ही हम भाई-बहिन बिखर कर फिर अतीत की ओर लौट जाते! न जाने किस पुण्ययोग से तो सम्मिलन हुआ था।

जब तक मैं अकेला था, तब तक अभावों में भी निश्चिन्त था। अब गृह-साधना ने जीवन में पहिली बार मुझे आर्थिक चिन्ता से उद्विग्न कर दिया।.........

उन दिनों इलाहाबाद के नवयुवक छात्रों में साहित्य का अनुराग उमड़ पड़ा था। 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' उन लोगों के बीच पहुँच चुका था। उसके बाद 'भारत' में छपे मेरे कुछ लेखों से एक वैचारिक वातावरण बन गया था।

एक दिन लीडर प्रेस की सीढ़ियों पर गङ्गाप्रसाद पाण्डेय से परिचय हो गया। वे क्रिश्चियन कालेज में पढ़ते थे। कोठी स्टेट की प्रजा थे। वहाँ के नवयुवक राजा साहब के विशेष कृपापात्र थे। उन्होंने मुझे आर्थिक सहयोग दिलाने का आश्वासन दिया।

पाण्डेयजी लौकिक दृष्टि से पूर्ण प्रवीण थे, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से अभी बिलकुल नये थे। मेरे द्वारा वे साहित्यकारों के सम्पर्क मे आना चाहते थे। मै चाहता था कि इसके पहिले, स्वाध्याय के साथ-साथ साहित्य के लिए वे जीवन की साधना भी करे। अन्यथा, उनकी दक्ष दृष्टि त्रुटियाँ ही देख सकेगी, विशेषताओं से वञ्चित रह जायगी।

इच्छा न होते हुए भी उनके आग्रह से मैने उनका परिचय कतिपय साहित्यिकों से करा दिया। कुछ लोगों से उनका 'समानशीलेषु सख्यम्' के अनुसार मित्रता हो गयी। महादेवीजी के अजस्र आशीर्वाद से उन्हें आत्मोन्नति का सुअवसर मिला। इसका श्रेय वे मुझे देते है, किन्तु मेरे बिना भी वे कभी न कभी उनकी कृपा पा लेते। बनारस में मैने एक भूतपूर्व मित्र का परिचय प्रसादजी से कराया था। वे उनके विशेष कृपापात्र हो गये, निश्चित आर्थिक आधार पा गये। क्या मेरे परिचय कराने के कारण?

पाण्डेयजी पन्तजी के भी निकट-सम्पर्क में आना चाहते थे। सफलता न मिलने पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि पन्तजी मेरी उपेक्षा करते है। वास्तविकता यह है कि राष्ट्रों की तरह ही प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी सीमाएँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार वह घनिष्ठता स्थापित करता है। मैं जन्म का सर्वहारा किसी की सीमा में स्वीकृत नहीं हो सका। मेरी स्थिति ट्राटस्की की-सी है।

......सन् १९३९ में 'कवि और काव्य' प्रकाशित हुआ। उसे

मैंने कोठी के राजा साहब को समर्पित कर दिया। मुझे कुछ आर्थिक सहयोग मिल गया।

'कवि और काव्य' का अच्छा स्वागत हुआ। 'लीडर' में श्री बालकृष्ण राव ने उसके सम्बन्ध में लिखा था कि वह समीक्षा-साहित्य में एक नया अध्याय बनाता है।

आर्थिक दृष्टि से कुछ निश्चिन्त होकर मैं फिर लेख लिखने लगा। साहित्य के साथ-साथ सामाजिक वातावरण में भी विचरने लगा।

बाहर नागरिकों और साहित्यिकों का संसार था, भीतर बहिन की साधना का आलोक था। साहित्य में मैं जिस संस्कृति और कला की स्थापना कर रहा था, वह तो बहिन में ही एकाकार थी। उसी के व्यक्तित्व के प्रकाश में साहित्य और समाज को देख रहा था।

बहिन बालविधवा थी, किन्तु उसके व्यक्तित्व में वैधव्य का विरस वैराग्य नहीं था। उसे जीवन से सरस अनुराग था। वह कलावती थी, आत्मसाधना के साथ-साथ जीवन की चित्र-साधना (रूप-साधना) भी करती थी। रंगों और आभूषणों से अपनी भावनाओं का शृंगार भी करती थी। अपने-आप में सगुण को सजा कर मानों वह भी निर्गुण निराकार से कहती थी—

'शून्य मन्दिर में बनूँगी
आज मैं प्रतिमा तुम्हारी।'—महादेवी

मीरा ने भी तो अपने आराध्य की उपासना कला से ही की थी। उस प्रेमयोगिनी, अनुरागिनी, संन्यासिनी राजरानी की यही साध थी—

ऊँचे-ऊँचे महल बनाऊँ,
बिच-बिच राखूँ बारी।

सांवलिया के दरसन पाऊँ
पहिन कुसुम्भी सारी ॥

विधवा होते हुए भी बहिन ने मीरा की तरह काव्य के रूप-रँग और रस-अलङ्कार को अपना कर एक सामाजिक क्रान्ति की थी। मर्य्यादा से छन्दोवद्ध होकर भी उसने परम्परा का अन्धअनुसरण नहीं किया।

वह गँवई-गाँव की वैष्णववालिका थी। आधुनिक शिक्षा-दीक्षा से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। आज कल के सामाजिक सुधारों को वह केवल बाह्याडम्बर मानती थी। तो फिर कट्टर रूढ़ियों के वातावरण में उसे परम्परा से मुक्त होने का साहस कैसे हुआ? उसमें कोई ऐसी जन्मजात शक्ति थी जो असाधारण प्रतिभाओं में ही होती है। वही शक्ति जीवन के दुर्गम पथ में उसकी मर्य्यादा की रक्षा भी करती रहती थी।

एक बार होली के अवसर पर उस बड़े घर की बहुओं ने अपने यहाँ आने के लिए आग्रह किया। उन्होंने शपथ खाकर कहा—आओ जी, हम रंग नहीं डालेंगी। बहुत बुलाने पर भी वह नहीं गयी।...गोधूलि के समय सामने की बृद्धा बंगालिन ने द्वार खटखटाया। हम लोग आदर से उसे माँ कहते थे। उसकी आवाज पहिचान कर बहिन ने द्वार खोल दिया। द्वार खुलते ही वृद्धा ने झट से रंग उँडेल दिया। बहुएँ हँसी से खिलखिला उठीं। बहिन रोष से प्रज्ज्वलित हो उठी। उसने क्षुब्धकण्ठ से कहा—क्या माँ को यही शोभा देता है?......

मैं सोचने लगा, रंगों को तो वह पसन्द करती है, फिर इतना रुष्ट क्यों हो गयी? बात यह है कि अपने एकनिष्ठ करुणाक्लिष्ट जीवन के

साथ वह किसी को खिलवाड़ नहीं करने देना चाहती थी। आवश्यकता पड़ने पर प्रहरी की तरह प्रखर हो जाती थी। उस समय उसकी आँखों में तेज और वाणी में ओज आ जाता था। ऐसा जान पड़ता था कि पञ्चभूतों के शरीर में कोई तड़ित् चेतना विस्फुरित हो रही है।

उसमें निदाघ की उत्तप्तता भी थी और चाँदनी की शीतलता भी थी। नवदुर्गा की तरह ही उसके व्यक्तित्व के कई रूप थे। मूलतः वह बालिका थी। वैधव्य ने नारी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उसी में सम्पुटित कर दिया था। विविध अवयवों में जैसे एक ही चेतना सञ्चालित होती रहती है वैसे ही शक्ति, भक्ति और अनुरक्ति में उसकी बालभावना ही गतिशील रहती थी। बच्चों की तरह ही वह रुष्ट हो जाती थी, बच्चों की तरह ही सबको क्षमा कर देती थी।

हम भाई-बहिन का लड़कपन कभी नहीं गया। जन्मदिन से जीवन में वही जीवन्त रह गया।

हम बच्चों की तरह ही लड़ पड़ते थे। जीत मेरी ही होती थी, क्योंकि नादान होकर भी मैं उसके दुलार का भाई था। समाज के अत्याचारों को वह सह नहीं सकती थी, किन्तु मेरे अविचारों को आँसुओं में बहा देती थी।

शरद की कहानियों और उपन्यासों को पढ़ते समय जब मैं किसी माया-ममता से द्रवित हो उठता था तो बहिन को ही स्मरण कर एकान्त में शून्य क्रन्दन करने लगता था। उसके समीप रहने पर उससे उलझ पड़ता था। ओह, मानव-स्वभाव कभी-कभी कैसा विसंगत हो जाता है!.......

माँ झुँझला कर बच्चे को मार देती है, दुधमुँहा बच्चा भी माँ पर अपने अटपटे हाथ चला देता है। किन्तु बच्चे के बिना माँ नहीं रह

•

सकती, माँ के बिना बच्चा नहीं रह सकता। कुछ इसी तरह का निर्दोष संघर्ष और अन्योन्य स्नेह हम भाई-बहिन में था।

मेरे ऊपर जब कभी वह खीझ उठती तब यही कह कर आत्म-सन्तोष कर लेती—यह तो पिता की तरह ही बावला है!

वह सोचती—इसे माँ का प्यार नहीं मिला, पिता का आधार नहीं मिला, यह तो उससे भी अभागा है।

...किन्तु मुझे तो माँ की ममता और पिता की क्षमता उसी में मिल गयी थी। माता-पिता की तरह ही वह मेरे जीवन के क्षण-क्षण का संरक्षण करती रहती थी। इसी लिए तो मुझमें गृह-संस्कार है।

वह क्या केवल मेरी ही बहिन थी? वह तो सबकी जीवात्मा थी। उस बड़े घर के आँगन में भूख प्यास से छटपटाते कपोतों से लेकर बाहर खेलते-उछलते बच्चों तक की सुध-बुध वही लेती थी।

एक दिन इधर-उधर घूम कर रात में जब मैं घर लौटा तब बहिन ने प्रसन्नता से किलक कर कहा—तुम्हारा छोटा भाई आया है।

मुझे आश्चर्य्य हुआ कि इस अकिञ्चन के यहाँ कौन अतिथि आ पहुँचा। धन्य भाग्य!

मेरी आवाज़ सुन कर जो बन्धु सामने आया, वह और कोई नहीं, हरिदत्त था। अपनी रोजी का सिलसिला जमाने के लिए बनारस से इलाहाबाद चला आया था। मेरी अनुपस्थिति में, थोड़ी देर में ही बहिन का वात्सल्यभाजन हो गया था।

जिसे कोई नहीं पूछता, उसे बहिन के यहाँ आश्रय मिलता। उसकी

संवेदनशीलता किसी का दुःख नहीं देख सकती थी, चाहे वह साधु हो या असाधु।

महादेवी की कविता में मानों उसी की करुणा कहती थी—

सब आँखों के आँसू उजले
सबके सपनों में सत्य पला।

सबको अपनी सेवा-ममता देकर भी वह समाज से उसी तरह दूर एकान्त में रहती थी जिस तरह गाँव के सीमान्त में बहती सरजू। सबके सुख-दुख में समभागिनी होकर रात की नीरवता में अपनी ही सजल-वेदना में चिर एकाकिनी रह जाती। वह तमस्विनी की तरह शून्य निर्जन की तपस्विनी थी। मीरा की भी कुछ ऐसी ही एकान्त-साधना थी, तभी तो उसने कहा था—

मीरा के प्रभु गहिर गँभीरा,
हृदय रहौ जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हें,
जमुना जी के तीरा॥

उसका जीवन तो स्वयं एक तीर्थ था, फिर भी जहाँ-जहाँ प्रकृति में परम पुरुष निवास कर रहा है वहाँ-वहाँ तादात्म्य के लिए उसकी आत्मा का तीर्थ-प्रसार था।

प्रयाग में वह प्रायः उस बड़े घर की ताई जी के साथ त्रिवेणी का स्नान करने जाती थी। एक दिन गृह-काज में उसे कुछ विलम्ब हो गया। पुण्यलाभ के लोभ से अधीर होकर ताई जी तो तुरत चली गयीं, वह अकेली पड़ गयी। मैंने समझा, उन्हीं के साथ गयी होगी। किन्तु ताई जी नहा-धोकर अपनी रईसी सवारी पर

लौट आयीं, वह नहीं दिखाई पड़ी। इस परदेस में अनजान राह में वह कहाँ खो गयी! विकल होकर मैं बार-बार द्वार की ओर देखने लगा। झमाझम पानी बरसने लगा। मैं उसकी खोज में बाहर निकलना ही चाहता था कि तीसरे पहर साधना की सिद्धि की तरह वह स्वयं अचानक द्वार पर अवतीर्ण हो गयी। अपने भींगे वस्त्रों में मुझे वही मूर्त्ति मती त्रिवेणी जान पड़ी।

जीवन के परिशोधन के लिए बहिन धर्म्म को महत्त्व देती थी। धर्म्म उसके लिए रूढ़ियों में जड़ीभूत नहीं, बल्कि अन्तःशिराओं में चैतन्य था। साँस-साँस में उसी की स्वस्थ साधना करती रहती थी।

अपनी साधना से वह इसी भूलोक को सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् का स्वर्ग-लोक बना देना चाहती थी। उसके धर्म्म का यही ध्येय था। अपने आचार-विचार से वह शरीर और आत्मा की तरह ही बहिरन्तर वातावरण का परिष्कार करती थी, अपने सौन्दर्य्य-संस्कार से विश्व-मन्दिर में चेतना का अभिराम अभिषेक करती थी। तनिक-सी भी अशुचिता, तनिक सी भी कुरूपता स्वप्न में भी बरदाश्त नहीं कर सकती थी। सुरुचि के अभाव में संसार उसे अशोक वाटिका जान पड़ता था।

यदि वह चित्र बना सकती, कविता लिख सकती तो अपने अन्तर्जगत को बहिर्जगत में प्रत्यक्ष कर देती। कभी-कभी घर की दीवालों पर ड्राइङ्ग की रङ्गीन पेन्सिलों से फूल-पत्ती और गमले बना देती। पड़ोस की बालिकाओं के साथ बगीचे में पुष्प-चयन करती। उन्हीं के साथ एक बालसहेली की तरह हँस-खिल कर फूलों की माला और गहने गूँथती।

उसकी नैसर्गिक आत्मा को छायावाद में अभिव्यक्ति मिलती तो वह

पन्त के सौन्दर्य्य-दर्शन और महादेवी के अन्तर्वेदन (आत्मनिवेदन) से अभिन्न हो जाती।

... ...

सन् १६३६ में कुछ दिनों के लिए इलाहाबाद से मैं फिर बनारस चला गया। प्रेमचन्द जी का देहावसान हो जाने पर शिवरानी जी ने मुझे 'हंस' के सम्पादन-कार्य्य में सहयोग देने के लिए बुलाया था।

...बनारस में जीवन का एक मधुर शुभ अध्याय जुड़ते-जुड़ते रह गया। आज जिस मुहल्ले में रहता हूँ उसी के पड़ोस में एक गरीब ब्राह्मणी रहती थी। वह गरीब थी किन्तु गुदड़ी में लाल की तरह उसकी कन्या एक रत्न थी। वह कुसुमकलिका की तरह सहज-सुघर थी। उसमें सांस्कृतिक शोभा थी। वह मेरे गृह-संस्कारों की सहचरी बन सकती थी। किन्तु मैं तो सुदामा से भी अधिक सुदामा था, विवाह के लिए साधन नहीं जुटा सका।.....

उस बालिका का बेमेल विवाह हो गया, आर्थिक बलिवेदी पर उसका बलिदान हो गया। इलाहाबाद आने पर मैं अपने उच्छ्वसित क्षणों में सोचा करता—वह श्रीमुख तो युग-युग से पहिचाना हुआ था। न जाने किस योगायोग से तीर्थ में अपनी झलक दिखा कर फिर युग-युग के लिए ओझल हो गया!

काशी,
१० सितम्बर, १९५२

वह सुखमय प्रवास

काशी,
१३ सितम्बर, १९५२

इलाहाबाद के उस प्रवास में मुझे पुराने और नवीन साहित्यिकों का सामीप्य मिला। छायावाद-युग का लेखक होने के कारण स्वभावतः मैं रोमैन्टिक कवियों के अधिक सन्निकट रहा। पन्तजी और महादेवीजी ने अपने सौजन्य से मुझे अनुगृहीत किया।

किशोरावस्था से ही पन्तजी के काव्य और व्यक्तित्व के प्रति मेरे मन में अनिर्वचनीय आकर्षण रहा है। पहिले-पहिल सन्' २६ में मैंने उन्हें 'पल्लव' के कोमल कमनीय कवि के रूप में देखा था। उसके बाद उनका जीवन कठिन परिस्थितियों के झंझावात से आक्रान्त हो गया। सन् १६२६ में अत्यन्त रुग्ण होकर उन्होंने कुछ समय के लिए साहित्य-क्षेत्र से अवकाश ले लिया। सन्' ३१ में स्वास्थ्य-लाभ कर जब वे पुनः प्रयाग आये तब 'पल्लव'-काल की सुकुमारता एक प्रौढ़ मधुरता में परिणत हो गयी थी।......

कुछ दिनों बाद पन्तजी कालाकाँकर चले गये, वहीं रहने लगे। सन्' ३१ में नवीन भाव-चेतना और नवीन मानवता की वेदना लेकर उनका 'गुञ्जन' प्रकाशित हुआ। तभी से मुझे उनके साहित्यिक सम्पर्क में आने का सुअवसर मिला। उन्हीं दिनों मिस्टर रामचन्द्र टण्टन

से भी परिचय हुआ। उनका हृदय स्वच्छ और स्वभाव तेजस्वी है। अपनी परिष्कृत कलात्मक रुचि के अनुरूप ही जीवन में भी वे एक सुस्पष्टता चाहते हैं।......

मुझ पर पन्तजी के 'पल्लव' का प्रभाव बना हुआ था। मैं जिज्ञासु था। अभ्यास की दृष्टि से पन्तजी की काव्य-सम्बन्धी साधना और आलोचना की दृष्टि से 'काव्य-कला के आभ्यन्तरिक रूप' से परिचित होना चाहता था, जिसका सङ्केत उन्होंने 'पल्लव' के 'प्रवेश' में किया था। किन्तु पन्तजी उन दिनों इतना आत्मनिगूढ़ रहते थे कि मुक्त हृदय से वार्तालाप नहीं कर पाते थे। इसका एक कारण यह भी था कि वे मन्दभाषी थे और मैं अपने श्रवण की तरह उस समय मस्तिष्क से भी असमर्थ था। पन्तजी की कलाकारिता के लिए एक जीवित समस्या था।

'पल्लव' के सौन्दर्य्य-दर्शन के बाद 'गुञ्जन' की अनुभूतियों ने पन्तजी को समवेदनशील बना दिया था। अतएव, साहित्यिक सहयोग न दे पाने पर भी वे मुझे अपनी सामाजिक सहानुभूति देते रहे—

सन्' ३२ में बनारस में जब मेरा मस्तिष्क क्षीण हो गया था तब उन्होंने सहानुभूति से ही उसका कारण और निदान स्वतः समझ लिया था। अपने पत्र में लिखा था—पौष्टिक आहार से सब ठीक हो जायगा।

सन्' ३५ में जब 'भारत' का काम छूट गया तब उन्हें मेरे आर्थिक सङ्कट से मार्म्मिक कष्ट हुआ। मुझे 'बालसखा' में काम करने के लिए परामर्श दिया। अपने सहानुभूतिपूर्ण पत्र में उन्होंने लिखा—"क्या ......से मिल कर बालसखा में काम नहीं कर सकते? वहाँ काम भी कम रहता। लड़कों के लिए आप उपयोगी भी सिद्ध होते। 'मुच्छन मुच्छ-विहीन' की आत्मा मुच्छ-हीन बालकों के क्षेत्र में फिर पल्लवित

हो उठती।"—पन्त जी के हृदय में शैशव के लिए कैसा स्नेह-सरल स्थान है!......

महादेवी जी मेरे प्रति सहानुभूति से अधिक दया रखती थीं। उनकी कविताओं में जो वेदना है वह परोक्ष रूप से सामाजिक होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप से वैयक्तिक है, भावात्मक है। मेरी समस्या उनकी समस्या नहीं थी। मेरे जीवन और उनकी कविता में बहुत अन्तर था। फिर भी साहित्यिक माध्यम से मुझे उनका कारुण्य मिलता रहा।

उन दिनों वे प्रत्येक अभ्यागत से मिलती थीं। सभी को सुरुचि-पूर्ण जलपान कराती थीं। परहेज के कारण स्वयं कुछ नहीं खाती थीं। मैं उनके मन्दिर का प्रसाद पाकर भी अपनी वस्तुस्थिति में रिक्त ही रह जाता था।

पन्त जी को कविताओं और विचारों में अपने आपको पाता आया हूँ, महादेवी जी की कृतियों में बहिन को। किन्तु जैसे न तो अपना भला कर सकता था, न बहिन का; वैसे ही पन्त जी और महादेवी जी के लिए भी उपयोगी नहीं हो सकता था। उन लोगों ने व्यावहारिक दृष्टि से अपने अनुकूल सहयोगियों को अपना कर दूरदर्शिता का परिचय दिया।

जिन पुराने और नये साहित्यिकों के सम्पर्क में मैं आया उनमें सक्रिय समवेदना का अभाव जान पड़ा। पुराने साहित्यिकों में सामाजिक प्रगाढ़ता थी किन्तु आत्मत्याग नहीं था। नये साहित्यिकों में स्वप्न था, किन्तु आत्मत्याग के लिए कुछ नहीं था। पूँजीवाद ने इस युग का जीवन जैसा निःसत्त्व बना दिया था उसी का एक नीरस और निर्जीव प्रतीक मैं भी था। कोई सामाजिक आधार न मिलने के कारण मुझे कभी कभी कृत्रिम मादकता का आश्रय लेना पड़ा। थोड़ी-सी आत्म-विस्मृति, इसके बाद फिर वही चिरदिन की भव-भुक्ति। ....

इलाहाबाद में भयङ्कर हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया। बहिन देहात चली गयी, मैं होटल में रहने लगा।

बनारस की तरह इलाहाबाद में भी मुझे कुछ किशोर साथी मिल गये। वे समाज के नवल मुकुल थे। उनके सारल्य ने मुझ में उत्साह जगा दिया। मेरा लेखन-कार्य्य सुगम हो गया। उन्हीं की स्मृतियों से वह साहित्यिक प्रवास आज भी स्वर्गीय जान पड़ता है।

सन् १६३८ के सितम्बर में 'साहित्यिकी' प्रकाशित हुई। उसकी नन्ही-सी भूमिका में मैंने लिखा है—"इसमें कुछ लेख 'हमारे साहित्य-निर्म्माता' के पूर्व के हैं, कुछ उसके तथा 'कवि और काव्य' के बीच के, एकाध इधर के। अधिकांश लेख छोटे-छोटे हैं, संक्षिप्त चित्र; कोई-कोई लेख बड़े, जिनमें प्रसङ्गवश मुझे साहित्यिक इतिहास (बैकग्राउन्ड) को भी स्पर्श करना पड़ा है।"

'साहित्यिकी' के सम्बन्ध में डा० रामकुमार वर्म्मा ने अपने 'एक अनुभव' में लिखा है—

"ए फ़ाइन शिप एन ए फ़ेयर ब्रीज़—मन्द समीरण में एक सुन्दर जलयान!—आरलो विलियम्स का यह शब्द-चित्र मेरी आँखों के सामने चित्रित हो उठा, जब मेरी दृष्टि श्री शान्तियप्रिय द्विवेदी की 'साहित्यिकी' के पृष्ठों पर सन्तरण कर रही थी।......

इस निबन्ध-युग में हमारे प्राचीन निबन्ध-लेखकों के मधुर स्वप्नों को साकार करने वाले आधुनिक निबन्ध-लेखकों में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी एक दीप्तिमान लेखक हैं।

जितने अधिक लेख शान्तिप्रियजी ने आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर लिखे हैं उतने शायद अन्य किसी लेखक ने नहीं। हमारे साहित्य के

विद्यार्थियो को वर्त्तमान साहित्य का सबसे प्रथम और सबसे अधिक परिचय कराने का श्रेय शरीर से निर्बल, किन्तु विचारो से पुष्ट श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी को मिलना चाहिये।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के पाण्डित्य की गहराई खोजने वाले जिज्ञासु शान्तिप्रियजी के लेखो से सम्भवतः सन्तुष्ट न हो, किन्तु जिस नवीन शैली में लेखक ने अपने विचारो को प्रस्तुत किया है, वह शैली अपनी एक अलग सत्ता रखती है—कुएँ की गहराई की अपेक्षा सरोवर का, यथोचित्त गहराई लिये हुए, समतल और विस्तार इन लेखो मे मिलेगा।"

'साहित्यिकी' के लेखन-काल में ही मैने 'सञ्चारिणी' का भी आरम्भ कर दिया था। मेरा पाथेय समाप्त हो चला था। बनारस से 'कमला' निकलने जा रही थी। सन् १९३९ में मै वहीं चला गया। प्रयाग का सुखमय प्रवास अतीत हो गया।

काशी,
२४ सितम्बर, १९५२

बहिन का बलिदान

काशी,
२१ सितम्बर, १९५२

'कमला' पराड़करजी के सम्पादकत्त्व में प्रकाशित होने वाली थी। वे पत्थरगली में रहते थे। आफ़िस पास था। पराड़करजी के सामीप्य और आफ़िस की सुविधा की दृष्टि से मुझे भी उसी मुहल्ले में आ जाना पड़ा।

बनारस से मैं बचपन से परिचित हूँ। फिर भी वह मुहल्ला मुझे पसन्द नहीं था। बनारस की सङ्कीर्णता और जड़ता का वहाँ जमघट था। सँकरी गलियों की उस घनी आबादी में मनुष्य का स्वार्थ ही सिमट कर सघन हो गया था। प्रकृति की रमणीयता और विस्तीर्णता के लिए स्थान नहीं था। अपनी नैसर्गिक रुचि के कारण मैं खुले स्थान और वैसे ही मुक्त हृदय के संसर्ग में रहता आया हूँ। अब तक मुझे मेरे मन के अनुकूल जगह मिलती रही है, किन्तु इस बार भाग्य ने धोखा दे दिया।

एक मध्यमवर्गीय महाराष्ट्र के घर में किराये पर रहने लगा। मकान पँचतल्ला था। एकान्त और मुक्त वायुमण्डल के लोभ से सबसे ऊपर के खण्ड में मैंने डेरा डाला। किन्तु ऊँचे-से-ऊँचे तल्ले पर जाकर भी

आकाश के तारों की तरह मैं पृथ्वी से विच्छिन्न नहीं हो सकता था। मेरे ऊर्ध्व लोक की बुनियाद जिस सामाजिक धरातल पर थी वह नीरस और निश्चेतन था। अनुकूल वातावरण में जङ्गल भी मङ्गल हो जाता है, प्रतिकूल वातावरण में महल भी मरघट हो जाता है।

बेमन का मकान तो मिल गया, किन्तु भोजन की व्यवस्था नहीं सध सकी। यान्त्रिक दिनचर्य्या में शरीर की स्थिति मशीन से भी बदतर हो गयी। तनिक-सी असुविधा से भी छुई-मुई की तरह मुरझा जाने वाला मेरा चिरदुर्बल शरीर शिथिल हो गया, मस्तिष्क स्फूर्त्ति-शून्य।

सोचा, बहिन आ जाती तो फिर नवजीवन मिल जाता। मैं देहात चला गया। किन्तु इधर मैं निर्जीव हो रहा था, उधर बहिन जीवन्मृत होती जा रही थी। इलाहाबाद से देहात जाकर वह अस्वस्थ हो गयी थी। उसकी आत्मा इतनी सुकुमार थी कि जरा-सा दुःस्वप्न देख कर भी घबड़ा जाती थी। शारीरिक असुविधाओं को वह झेल सकती थी, किन्तु मानसिक व्याघातों को सह नहीं सकती थी। भावनाओं का उसके तन-मन पर द्रुतगामी प्रभाव पड़ता था। एक ओर धार्म्मिक साधना से, दूसरी ओर मार्म्मिक वेदना से उसका स्वाभाविक मृदुल शरीर इन्दुकला की तरह छीजता जा रहा था।

मेरी चिन्ता उसे मुझसे अधिक थी। मेरे वयस्क हो जाने पर भी वह मुझे उन्हीं दिनों की तरह अविकच शिशु समझती थी जब मैं अपने नन्हे-नन्हे पगों से इधर-उधर फुदकता रहता था। घर से बाहर निकलने पर सोचती, यह कहीं राह-बाट में दब न जाय, किसी के उद्धत पदों से कुचल न जाय। इलाहाबाद से जब देहात जाने लगी तब यही बिसूर-बिसूर कर रोती चली गयी कि कौन इसे खिलायेगा, कौन इसे सँभाले-सँवारेगा। ऐसी ही चिन्ता वह प्रत्येक विपन्न के लिए करती रहती थी।

मेरी असुविधाओं से आकुल-व्याकुल होकर भी बहिन उस समय देहात से बनारस नहीं आ सकी। उसने कहा—इसका भार तो हलका कर नहीं सकूँगी, अपनी रुग्णता में स्वयं ही इस पर भार हो जाऊँगी। यहाँ देहात में बहुओं और कन्याओं के स्नेह-संरक्षण में स्वास्थ्यलाभ कर फिर कभी काशी आ जाऊँगी।......

फरवरी का महीना था। खेतों में कटाई और खलिहानों में दँवाई हो रही थी। गाँव का कोई आदमी शहर में काम करने के लिए आना नहीं चाहता था। फिर भी एक सैलानी युवक उठ खड़ा हुआ। उसने सोचा—चलो शहर भी घूम आयेंगे और अपने पँहिचानियों से मिल-जुल भी लेंगे।

वह था गाँव का चलता-पुर्जा चालाक आदमी। मेरे साथ बनारस आया। भोजन बनाने लगा। किन्तु उसके हाथ का भोजन मैं कर नहीं सका। वह था दमे का बीमार। गलित-पलित घिनौना था उसका मुँह। जब खाँसने लगता तब वातावरण वीभत्स हो जाता। यदि मैं प्रगतिवादियों की तरह आधुनिक और रूढ़िवादियों की तरह अन्ध धार्म्मिक होता तो पात्रापात्र का बिना विचार किये ही हर एक के हाथ का अच्छा-बुरा खाना खा लेता। किन्तु मैं हूँ भावुक वैष्णव। कविता और रसोई दोनों में एक-जैसी ही रुचि रखता हूँ। दोनों ही मेरे लिए रस-प्रधान हैं। जैसे हर एक की लिखी कविता मुझे पसन्द नहीं आती वैसे ही हर एक की बनाई रसोई भी। कविता की तरह रसोई के लिए भी परिष्कृत रुचि और स्वस्थ सुन्दर व्यक्तित्व वाञ्छनीय है। बिहारी का दोहा याद आता है—

टटकी धोई धोवती चटकीली मुख-जोति।
फिरति रसोई के बगर जगर-मगर दुति होति॥

व्यावसायिक युग में इस गार्हस्थिक सुषमा का ह्रास होता जा रहा है। कुलीन घरों में भी गन्दे फूहड़ बदसूरत रसोइये खाना बनाते हैं। मनुष्य केवल कामकाजी और उदरम्भरि पशु हो गया है। उसके जीवन में सौन्दर्य्य-बोध और रस-बोध के लिए स्थान नहीं है।......

बहिन की स्नेह-छाया में जिस लालित्य से मेरा हृदय कलानुरञ्जित था वह दुर्लभ होता जा रहा था। दुर्भाग्य बढ़ता चला आ रहा था। सुकुमार रसों का स्थान उत्कट रसों को मिलता जा रहा था।......

मकान के जिस खण्ड में मैं रहता था उसमें एक कमरा पतला और लम्बा था, दूसरा बहुत छोटा और चौकोर था। दूसरा कमरा ही मेरा साहित्यिक आवास था।

मेरा रसोइया पतले और लम्बे कमरे में सोता था। एक दिन सबेरे उठते ही उसने कहा—इस कमरे में मैं सो नहीं सकूँगा। रात भर दीवार की ओट से न जाने कैसे-कैसे निशाचर झाँकते रहते हैं।

मैंने समझा, यह देहाती डर गया है। बहुत ढाढ़स देने पर भी जब उसे सन्तोष नहीं हुआ तब रात में मैंने कमरे का निरीक्षण किया। सचमुच, दृश्य भयानक था। कमरे की पिछली दीवार में एक ही जगह ईंटों की फाँक से कई छोटे-छोटे मोखे बने हुए थे। दीवार के पीछे और कोई मकान नहीं था, सुनसान अँधेरी रात में उन मोखों से आकाश की सफेदी आँखों के सफेद कोयों की तरह मुर्दार लगती थी। भूत-प्रेत को न मानते हुए भी जिस रुचि से हम किसी दृश्य को सुन्दर और किसी दृश्य को भयङ्कर कहते हैं उसी रुचि से उस दुर्दान्त एकान्त दृश्य को देख कर भयभीत हो जाना स्वाभाविक था।

शुभाशुभ की दृष्टि से वह दृश्य महा अशुभ था। शोभन ही शुभ

है, अशोभन ही अशुभ है। जिसका सौन्दर्य्य-संस्कार जितना ही सजग रहता है उसका शुभाशुभ-विचार भी उतना ही सूक्ष्मदर्शी होता है।

मैंने कहा—इस कमरे में बहिन कैसे रह सकेगी!

वह बोला—उसे सूने में अकेले रहने की आदत है।

वह दुष्ट तो स्वयं ही भूत था। गाँव में बहुत उत्पात मचाया करता था। मैंने उसे दण्ड देने के लिए कहा—तुम्हें इसी कमरे मे सोना पड़ेगा।

लेकिन उसे बहुत दिन उस काल कोठरी का कारावास नहीं भोगना पड़ा। एक दिन साँझ को बाजार से आकर उसने यह दुःसम्वाद दिया—शहर में हिन्दू-मुस्लिम दंगा शुरू हो गया।

नगर में मरघट का-सा सन्नाटा छा गया। दो-एक दिन बाद ही होली थी। मैंने सोचा—शहर के इस मुहर्रम से तो गाँव की होली ही अच्छी। मैं रसोइये को साथ लेकर देहात चला गया।

गाँव की ज़मीन पर पैर रखते ही जो पहला आदमी मिला उससे मैंने यही पूछा—बहिन अच्छी तरह है?

बनारस में मुझे यह अन्देशा हो गया था कि शायद बहिन को जीवित नहीं पा सकूँगा। कभी-कभी भविष्य अनायास अपना पूर्वाभास दे जाता है।

यह जान कर सन्तोष हुआ कि बहिन सकुशल है। आकाश में जिस विहङ्गिनी के विलीन हो जाने का भय था उसे पृथ्वी पर पाकर मैंने परमात्मा को धन्यवाद दिया।

होली में चारो ओर हर्ष मनाया जा रहा था, किन्तु मेरा भूखा-प्यासा शरीर बहिन के हाथों का अन्न-जल पाने के लिए तरस कर रह गया। बहिन चलती-फिरती, हँसती-बोलती थी; किन्तु शरीर से निःशक्त हो गयी थी। ऐसा जान पड़ता था—

काया का पिंजरा डोल रहा
इक साँस का पंछी बोल रहा।

उसने एक कहानी सुनाई, किस तरह कोई चिड़िया काल के आने के पहिले ही भव-कूप में अपना बसेरा छोड़ कर उड़ गयी। एक दिन बोली—पिता जी कहा करते थे—

मन मिले का मेला है
सबसे भला अकेला है।

मै मूढ़ समझ नहीं सका कि उसकी इन बैरागियों की-सी बातों में भविष्य की भूमिका है।

पतझड़ का अशान्त झंझावात प्रकृति को आन्दोलित कर रहा था। ऐसे कुसमय में इच्छा न होते हुए भी बहिन मेरे दुराग्रह से काशी के लिए चल पड़ी। स्टेशन पहुँचते न पहुँचते गाड़ी छूट गयी। दूसरी ट्रेन रात में जाती थी।

उन दिनों मुझे रेलवे के टिकट संग्रह करने का शौक था। उनमें मुझे जीवन की न जाने किन-किन दिशाओं की कितनी ही औपन्यासिक कहानियाँ मूक मिलती थीं। विजिटिङ्ग कार्ड की तरह वे टिकट यात्रियों के जीवन के परिचय-पत्र जान पड़ते थे। उन टिकटों को देख-देख कर मैं भिन्न-भिन्न स्टेशनों की ओर जाने वाले मुसाफ़िरों के सुख-दुख की अनजानी कहानियों में कल्पना से स्वप्न-विभोर हो उठता था।

रात में टिकट खरीदते समय एक भूलभुलैया हो गयी। बनारस के लिए मैंने दो टिकट खरीद कर भीतर के जेब में रख लिया। थोड़ी देर बाद ख्याल आया कि वहाँ तो दंगा हो रहा है, टिकट छावनी के लिए बदलवा लेना चाहिये। टिकट वापस करने पर टिकटमास्टर ने कहा—ये पुराने हैं, नये टिकट दो। उसकी बात समझ में नहीं आयी, मैंने दो टिकट और दे दिये। टिकटमास्टर बिगड़ गया, वे दोनों टिकट भी पुराने थे। मैंने समझा, वह मुझे धोखा दे रहा है, उसने समझा, मैं उसे धोखा दे रहा हूँ। सचाई दोनों के साथ थी। रसोइये के साथ देहात से आते-जाते समय मेरे पास जो चार टिकट इकट्ठे हो गये थे वे महा-विकट हो गये। बिना देखे उन्हें ही मैंने दे दिया था। टिकटमास्टर बौखला उठा। लाचार होकर फिर से टिकट खरीदना पड़ा। टिकट-संग्रह करने का शौक खतम हो गया।

गाड़ी में बैठ जाने पर मैं याद करने लगा, पहिले खरीदे टिकट आखिर कहाँ गुम हो गये! अचानक मेरा हाथ भीतर के जेब में चला गया। देखा, आँखमिचौनी में लुके-छिपे लड़कों की तरह वे दोनों वहीं विराजमान हैं।

कभी-कभी मनुष्य अपने ही से छला जाता है। मैं कैसा भुलक्कड़ हो गया था! भूख-प्यास और परिश्रम ने मस्तिष्क को ग्रस लिया था। मैं भरोसे का आदमी नहीं रह गया था।

ऐसे ही हतबुद्धि यात्री के साथ बहिन काशी आयी। गाँव में प्राकृतिक वातावरण से वह जीवन को जुगोती आ रही थी, नगर के जन-सङ्कुल वातावरण में कहीं से कोई सजीव प्रेरणा नहीं पा सकी। तीन-चार दिन में ही वह ज्वराक्रान्त हो गयी।

उन दिनों 'सञ्चारिणी' छप रही थी। 'सञ्चारिणी', 'कमला'

और बहिन, इस तिहरे दायित्त्व में मेरा कुण्ठित मस्तिष्क किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो गया। सब कुछ छोड़ कर मैं बहिन की सेवा में ही लग जाता, किन्तु मुझे परिचर्य्या का तनिक भी अनुभव नही था। नारी की सेवा के लिए तो नारी ही उपयुक्त हो सकती थी।

घर की स्वामिनी ने तुलसी की पत्ती और मिर्च पीस कर दिया, वह इतना तिक्त था कि बहिन उसे पी नहीं सकी। गृहस्वामिनी को बहिन देखना नही चाहती थी, क्योंकि उसकी आकृति कुरूप थी। एक ग्वालबाल दूध दे जाता था, उसका बेडौल और भोंड़ा शरीर बड़ा अशोभन था। बहिन ने उससे दूध लेना बन्द कर दिया। अस्वस्थता में भी उसकी सौन्दर्य्य-चेतना सजग थी। सुन्दर और शिव के हाथों वह विषपान कर सकती थी, किन्तु असुन्दर और अशिव के हाथों उसे अमृत भी अभीष्ट नहीं था। स्वस्थ स्थिति में शुभाशुभ की जो भावना जीवन को गति-विधि देती रहती है वही अस्वस्थता में तीव्र हो जाती है।

बहिन ने कहा—बूँदी को बुला लो तो वह सब सँभाल लेगी।

गाँव में बहिन जिस कुटीर में रहती थी, उसी के बगल में बूँदी रहती थी। वह अधेड़ गरीब कहाँरिन थी। बहिन की रुचि-अरुचि से सुपरिचित थी, बहुत सेवा करती थी।

बहिन जब इलाहाबाद में रहती थी तभी बूँदी ने अनुरोध किया था कि मुझे भी तीर्थ में ले चलो। वहाँ भले घरों में बर्त्तन माँज कर तुम्हारी छाया में बनी रहूँगी।

अनवरत श्रम और व्रत-उपवास से बहिन का शरीर बहुत पहिले ही जर्ज्जरित हो गया था। उसने सोचा, बूँदी के साथ रहने से गाँव-जैसी ही सुविधा हो जायगी।

'हंस' में काम करते समय बहिन बूँदी को साथ लेकर बनारस आयी थी। रायसाहब की माता जी ने आग्रह करके उसे अपनी सेवा में ले लिया था। शरीर से लाचार हो जाने पर बहिन ने उसी सहयोगिनी को स्मरण किया। वह उसी की तो थाती थी।

बूँदी को मैं बुला लाया। उसे छुट्टी दे देने के लिए रायसाहब को पत्र लिख कर आफ़िस चला गया। साँझ को लौटते समय सोच रहा था, दीपक के आलोक में कमरा जगमगा रहा होगा, सेवा-शुश्रूषा से बहिन के मुख पर भी आह्लाद आ गया होगा। . ...किन्तु यह क्या! कमरे में घनघोर अँधेरा छाया हुआ था, जमीन पर छिन्नाधार ललिता की तरह बहिन छटपटा रही थी, प्यास से कराह रही थी। हाथों में इतना बल नहीं कि बगल से जल लेकर पी सके। सूखे कण्ठ और टूटी-फूटी आवाज़ से उसने जो कुछ कहा वह बहुत ही रोमाञ्चक था—

"कथा है कण-कण करुण अथाह
बूँद में है बाड़व का दाह।"

बूँदी छुट्टी न मिलने के कारण विवश होकर रोती-कलपती चली गयी थी। पूँजीवाद ने उसे आतङ्कित कर दिया था। ध्यान आया, यदि मुन्शी अजमेरी जी जीवित रहते तो हम भाई-बहिन इतना निःसहाय और निरुपयाय नहीं होने पाते। बहिन को वे बहुत मानते-जानते थे, उसमें पृथ्वी की ही भोली-भाली आत्मा देखते थे।

कहीं से कोई आत्मीयता न मिलने पर बहिन के परामर्श से उसे लेकर मैं वहाँ आया जहाँ आज रहता हूँ। यह मेरी फुफेरी बहिन का घर है। काशी में जिन ब्राह्मणों ने दान-दक्षिणा से अपने लिए घर-द्वार बना लिया था, जीविका के लिए पर्याप्त आधार पा

लिया था, उन्हीं में फुफेरी बहिन के स्वर्गीय पति भी थे। उनके दिवङ्गत होते ही घर की शोभा-श्री समाप्त हो गयी। अब यह परिवार मध्यम वर्ग का असंस्कृत अवशेष है। आज सभी वर्गों की ऐसी ही घृणित स्थिति है।

देहात से बनारस आने पर बहिन तो बेमन से यहाँ कुछ दिन ठहर जाती थी किन्तु मैं कभी एक मिनट के लिए भी नहीं आता था। निर्धनता, लोलुपता, वीभत्सता से दूषित यहाँ का वातावरण न मुझे पसन्द था, न बहिन को। किन्तु जीवन का यही तो अभिशाप है कि जहाँ जाने की इच्छा न हो वहीं जाना पड़ता है—

तुलसी जसि भवितव्यता तैसइ मिलइ सहाइ।
आपु न आवइ ताहि पहिं ताहि तहाँ लेइ जाइ॥

यहाँ कोई विश्वसनीय सहायक नहीं था। एक तो हिन्दू-मुस्लिम दंगा, तिस पर चार-पाँच वर्ष तक बनारस से मैं बिलग हो गया था। मन किसी सहृदय का सहारा चाहता था। कहीं कोई दिखाई नहीं देता था।

लंका के विष्णु भवन में एक प्रगतिशील परिवार रहता था। एक नवयुवक कवि वहाँ मधुकर की तरह मँड़राया करते थे। उन्हीं के द्वारा उस परिवार से मेरा परिचय हो गया था। मुझे वहाँ से आश्वासन और निमन्त्रण मिला।

फुफेरी बहिन के यहाँ कोई हार्दिक सम्बल नहीं था, फिर भी जानी-पहिचानी जगह छोड़ कर बहिन अनजानी जगह जाना नहीं चाहती थी। किसी प्रसन्न वातावरण से मानसिक स्फूर्त्ति पाने की आशा से बहिन को साथ लेकर मैं लंका पर चला गया। मृगमरीचिका में भटक गया।

उस प्रगतिशील परिवार की वृद्धा पुरखिन अध्यापन भी करती थी और चिकित्सा भी करती थी। जब वह दवा लेकर आयी तब बहिन ने उसे बरज दिया—मैं तुम्हारे हाथ की दवा नहीं लूँगी।

वह वृद्धा आकृति-प्रकृति से महाविकटा थी। बहिन उसे देख कर उसी तरह भयभीत हो गयी जिस तरह अशोक वन में किसी राक्षसी को देख कर सीता। वह वृद्धा जैसी अल्पविद्या महाभयङ्करी थी, वैसी ही 'नीम हकीम खतरे जान' भी। बहिन अपने सौन्दर्य्य-बोध से ही उसका आन्तरिक परिचय पाकर सशंक हो गयी थी।

मैंने सोचा, कोई सामाजिक सम्बल न मिलने पर भी बहिन जिस आत्मबल से जीती आ रही थी उसी अन्तःशक्ति से वह पुनरुज्जीवित हो उठेगी। किन्तु स्नेह-वञ्चित दीपशिखा कब तक प्रज्ज्वलित रह सकती थी!

उस दिन एकान्त में न जाने क्या सोच कर बहिन मुस्करा पड़ी थी। आह, उसकी वह मुसकान भूले नहीं भूलती—वह मानों चेतना की किरण-द्युति थी, आत्मा की स्वर्ण-दीप्ति थी, परमात्मा की आनन्द-ज्योति थी।

लंका पर आते ही बहिन की दशा चिन्ताजनक हो गयी। वह कराहती थी, आर्त्तनाद करती थी, किन्तु उसकी वाणी ऐसी अस्पष्ट हो गयी थी कि उसका अभिप्राय समझ में नहीं आता था। उसके आस्तिक हृदय को सान्त्वना देने के लिए मैंने कहा—बहिन, सीताराम का चित्र देखोगी? उसने शिर हिला कर स्वीकृति दी।

रामायण खोलने पर उसमें चित्र नहीं मिला, अचानक यह पंक्ति ही

सामने आ गयी—'कलि केवल मल-मूल-मलीना।'—क्या यही इस दुर्गन्धित युग का निष्कर्ष है !!

बहिन जब मरणासन्न हो गयी, तब अपनी चिकित्सा का सम्मान-बचाने के लिए प्रगतिशील परिवार ने उसे अस्पताल भेजने का परामर्श दिया। पास ही अस्पताल था। बहिन अस्पताल नहीं जाना चाहती थी। देहात में जिसने क्रिश्चियन प्रचारिकाओं से धर्म्म नहीं ग्रहण किया, नगर में वह अंग्रेजी अस्पताल से स्वास्थ्य कैसे ग्रहण कर सकती थी ! उसकी रुचि-अरुचि से परिचित होते हुए भी मानसिक विकलता से मैं विवेक-शून्य हो गया था।

......सबेरे बहिन ने संकेत से दातुन माँगा। ऐसी शोचनीय अवस्था में भी उसका आचार-विचार जागरूक था। शरीर से असमर्थ होकर भी वह मस्तिष्क से सचेतन थी। अन्तिम क्षण तक जीवन को निर्म्मल बनाये रखना चाहती थी। दाँतों पर दातुन रगड़ते ही उसकी कृश उँगुलियों से छूट कर गिर गया। शरीर उसका परवश हो गया।

......अस्पताल की रुग्णशय्या पर जब उसे लिटा दिया गया तब नर्स ने पीठ की परीक्षा लेने के लिए इस झटके से करवट खिलाई कि बहिन का सिर फुटबाल की तरह उछल गया। मैंने चीख कर कहा—अरे, जरा धीरे से......

उद्दंड डाक्टर ने डाँट कर मुझे बाहर निकल जाने के लिए कहा। मेरी स्थिति ऐसी जटिल हो गयी कि न तो उसे अस्पताल में छोड़ सकता था और न वहाँ से ले जा सकता था। लेकर कहाँ जाता !

उस हृदय-हीन वातावरण में अस्पताल के आंग्ल उपचार बहिन के लिए आसुरिक उत्पात बन गये होंगे। ओह, उस कोमलता की सुषमा को मैं कहाँ छोड़ आया !!

सायङ्काल जब बहिन को देखने के लिए अस्पताल गया तब वह आकाश की ओर ताकती हुई कराह रही थी। उसकी चारपाई से एक और चारपाई लगा दी गयी थी, ताकि छटपटाहट से हाथ-पाँव नीचे न चले जायँ। बहिन तक पहुँचना किसी वर्जित प्रदेश में पहुँचने की तरह कठिन हो गया। ऐसा जान पड़ता था कि नदी के इस पार मैं खड़ा हूँ, उस पार वह बिलख रही है।......

डाक्टर ने कहा—रात की ड्यूटी के लिए कोई नर्स नहीं है। आप कोई परिचारिका खोज लाइये।

फिर वही समस्या सामने आ गयी। आज के युग में धन ही नहीं, जन भी दुर्लभ हो गया है। बहुत खोजने पर भी बहिन के लिए परिचारिका नहीं पा सका।......जो सबके दुःख से द्रवित हो उठती थी उसके दुःख में कोई काम नहीं आया।

दूर अतीत का अवगुण्ठन हटा कर आँखों के सामने एक स्नेह-मूर्ति उदित हो गयी—काशी की वह बालिका यदि आज मेरी सङ्गिनी होती तो बहिन को इतना निर्जन और निराधार नहीं हो जाना पड़ता। गृह-चर्य्या ही परिचर्य्या बन जाती। बहिन की सेवा और आशीवाद से उस गृहिणी का जीवन कृतकृत्य हो जाता।

......अस्पताल की ओर से जो नैश परिचारिका मिली उसे देख कर भयङ्करता भी भयभीत हो सकती थी। वह यमराज के विकराल वाहन की तरह काली और मोटी थी।

जीवन-भर जिस बहिन ने सौन्दर्य्य की दृष्टि से ही सृष्टि को देखा, उस कालनिशा में उसे कैसी कुरूपता का सामना करना पड़ा! नियति का यह कैसा निर्दय परिहास है!!

वह शरीर से नहीं, सुरुचि से जीती आ रही थी। सुरुचि के अभाव में फूलों की तरह निःश्वास छोड़ कर सूक्ष्म में लीन हो गयी।

ब्राह्ममुहूर्त्त में जब मैं अस्पताल पहुँचा तब मुझे उसका निष्प्राण शरीर मिला। उस शव में भी उसकी चेतना का शिवत्त्व शेष था। उसका मुखमण्डल स्वर्णाभा से जगमगा रहा था। मृत्यु को भी उसने अशोभन नहीं होने दिया।......

चरणों को पलकों से लगा कर मैंने उसे अन्तिम विदा दी।

जाओ बहिन! यह जनम-जनम का अभागा तुम्हें कोई सुख नहीं दे सका। तुम तप-तप कर होमशिखा की तरह अदृश्य हो गयीं। अपने अभिशापों में तुम्हें सँजो नहीं सका।

ॐ शान्तिः शान्तिः!

काशी,
२८ सितम्बर, १९५२

व्यक्ति और समाज

काशी,
३० सितम्बर, १९५२

बहिन के श्राद्ध-संस्कार के बाद जब नगर के चौराहे पर जा खड़ा हुआ तब जीवन में पहिली बार अनुभव किया—'कितना अकेला आज मैं !

मेरे चारों ओर संसार का रेला-मेला लगा हुआ था, किन्तु मैं ठगा-सा, खोया-सा समूह को देख रहा था। इस छलना और प्रवञ्चना के संसार में मुझे कुछ भी विश्वसनीय नहीं जान पड़ता था। मेरा दृष्टि-कोण यथार्थवादी हो गया था। कविता-कला-कोमलता-कुलीनता बहिन की चिता के साथ भस्म हो गयी थी, उसकी समाधि पर मैं एक प्रश्नचिह्न की तरह शेष रह गया था।.........

आदरणीया महादेवीजी ने अपनी समवेदना के पत्र में लिखा—"तुम्हें आश्वासन देने के लिए मुझे शब्द नहीं मिलते क्योंकि मैं जानती हूँ कि तुमने क्या खोया है। भगवान तुम्हें जीवन के इस कठिनतम अभिशाप को झेल कर भी अपने प्रति विश्वासी बना रहने दे, मेरी यही कामना है।

......तुम्हारे और भी एक बहिन है, इसे न भूलना।"

श्री गङ्गाप्रसाद पाण्डेय ने लिखा—"भगवान की आपके प्रति इससे बड़ी निर्दयता और कुछ नहीं हो सकती। आपके जीवन का सहारा तथा पारिवारिक जीवन की पूर्ण ममता का प्रकाश वही थीं। उन्हीं के पुण्यप्रसाद से आप बालकाल से ही माँ-बाप के बिना भी अपने जीवन का निर्म्माण एवं विकास कर सके थे। वे आपके लिए माँ से बढ़ कर थीं। भगवान से प्रार्थना है कि वह उन्हें स्वर्ग में सन्तुष्ट रखे और उनकी आत्मा सदैव आपकी रक्षा को आकुल रहे।*

आप शीघ्र प्रयाग चले आइये। यहाँ आपका मन बहलेगा। वास्तव में आज आप अनाथ हैं। आपको देख कर हृदय कँप जावेगा।......"

प्रयाग जाकर भी मन प्रसन्न नहीं हो सका। बनारस की करुण स्मृतियों से सन्तप्त तो था ही, इलाहाबाद के उन दिनों की स्मृतियों से विह्वल हो उठा जब बहिन वहाँ रहती थी। कैसे वह त्रिवेणी नहाने जाती थी, कैसे वह माला गूँथती थी, कैसे बच्चों की तरह ललक-पुलक पड़ती थी। लूकरगंज के उस निवासस्थान पर जाकर देखा, दीवार पर अब भी उसके हाथ के फूल-पत्ते और गमले बने हुए थे। एक दिन जो सजीव थी वह भी क्या अब चित्रमात्र रह गयी!

इलाहाबाद से जब बहिन देहात चली जाती थी तब सूने गृह में उसकी स्मृति से विकल हो जाने पर भी यह आशा बनी रहती थी कि क्षिति के किसी छोर पर पहुँच कर उसे पा जाऊँगा। अब उसे कहाँ पा सकूँगा! आकाश की तरह फैले हुए महाशून्य को देख कर मैं अधीर

---

* मेरे ही नहीं, बल्कि सबके कुशल-क्षेम को देखने-जानने केलिए मृत्यु के बाद भी उसकी आँखें खुली रह गयीं।

और उच्छ्वसित हो उठता था। उस अपार सूनेपन में तैर नहीं पाता था।

श्री नरेन्द्र शर्म्मा ने लिखा—आपके शोक की मैं कल्पना कर सकता हूँ। यों तो आपके अनेक मित्र और शुभेच्छु हैं, लेकिन आपकी अपनी केवल वे ही थीं। भाई, ऐसे अवसर पर दूर से धीरज बँधाने के लिए पुरानी बातें दोहराने के अतिरिक्त और लोग कर ही क्या सकते हैं। किन्तु शोक को जीतने के लिए सन्तोष और ज्ञान की जो शक्ति आवश्यक है वह अपने अन्तःकरण से ही आती है। आशा है, आपको इतना आत्मबल प्राप्त होगा।"

सचमुच, मनुष्य को आत्मबल से ही जीना और आगे बढ़ना पड़ता है। किन्तु रोग-शोक और दुःख का कारण जहाँ केवल व्यक्तिगत नहीं, सार्वजनिक होता है, वहाँ आत्मबल के साथ सामाजिक सम्बल भी चाहिये। इसके बिना व्यक्ति कितना पङ्गु हो जाता है, यह पन्त जी की 'पाँच कहानियाँ' के 'पानवाला' में देखा जा सकता है। वैसी ही स्थिति मेरी भी थी।

पन्त जी ने पत्र नहीं लिखा था, प्रयाग में स्वयं उपस्थित होकर उन्होंने अपना मौन संवेदन दिया। उनके साथ नरेन्द्र शर्म्मा भी थे। मैंने उन परिस्थितियों पर प्रकाश डाला जिनमें व्यक्ति को एकाकी हो जाना पड़ा।

......प्रयाग में पाण्डेयजी के यहाँ मैं ठहरा था। उन्होंने मुझे समवेदना का निमन्त्रण दिया था, किन्तु दो दिन में ही हम लोगों का अन्तर्विरोध स्पष्ट हो गया। पाण्डेयजी की पारिवारिक और सामाजिक स्थिति सुदृढ़ थी। उनकी अपेक्षा मैं सब तरह से निर्जन, निर्धन और

निःसम्बल था। इसी लिए शुरू से ही समाज की तरह साहित्य में भी वे मुझमें दीनता-हीनता जगा कर अपना मुखापेक्षी बनाये रखना चाहते थे। अपने वर्ग-संस्कार को छोड़ नहीं पाते थे। किन्तु समाज में बहिन और साहित्य में महादेवीजी का स्नेह-सम्बल पाकर मैं झुकना नहीं चाहता था।

बहिन के देहावसान के बाद मेरी सामाजिक मृत्यु हो गयी, किन्तु साहित्य में मैं जीवित था। बहिन को खोकर भी उसकी तपश्चर्य्या का तेज मेरे साहित्यिक स्वाभिमान में था। बहिन के देहान्त से मर्म्मान्तक आघात खाकर भी मुझे झुकते न देख कर पाण्डेयजी ने झटकार दिया—देखिये साहब, आप अपनी बहिन की मृत्यु का दोष बहत्तर आदमियों के मत्थे मढ़ते हैं, यह उचित नहीं है।

बहत्तर आदमी......यह संख्या तो बहुत थोड़ी है, मैं तो बहिन की मृत्यु का दायित्त्व सारे समाज के सिर पर थोपता आया हूँ। आज सोचता हूँ, बिन्दु में ही सिन्धु को क्यों न देखूँ; उसी समाज का प्रतिबिम्ब मुझ में भी तो है। समाज की इकाई में बहिन के बलिदान का अधम अपराधी मैं ही हूँ!—'मो सम कौन कुटिल खल कामी?'

सन् १९३९ के मार्च में बहिन का देहान्त हुआ था, अप्रैल में 'सञ्चारिणी' प्रकाशित हुई। जिस सरस्वती के संरक्षण में इसका प्रणयन हुआ वह इसे देख न सकी। उसकी स्मृति के मन्दिर में यह आरती बन कर रह गयी। उसी के चरणों में समर्पित हो गयी।

'सञ्चारिणी' के 'निवेदन' में मैंने लिखा है—'सञ्चारिणी मेरे अत्यन्त सङ्कट-काल में प्रकाशित हो रही है। मेरे लिए यह एक अभूतपूर्व समय है। न केवल मेरा जीवन, बल्कि मेरी रचनाएँ भी जिनके स्नेहसंरक्षण में पालन-पोषण पाती आयी हैं, जो जीवनयात्रा के दुर्गम

पथ पर अपनी ममता का अञ्चल मेरे मस्तक पर रखे हुए सौ-सौ असुविधाओं में भी मुझे सब तरह से अग्रसर किये हुए थीं, मेरी वे पूजनीया बहिन गत मार्च में इस संसार से विदा हो गयीं। मेरी रचनाओं में शब्द मेरे रहते थे, आत्मा उनकी। वे स्वयं एक करुण साहित्य थीं, इसी लिए जीवन में मैं आँसुओं को अधिक प्यार कर पाया हूँ। और अब तो अश्रु ही मेरे सर्वस्व रह गये—घोर सन्तापों में मूक, कोमल क्षणों में सजल।

जीवन-मरण तो सृष्टि का एक अनिवार्य्य क्रम है। किन्तु वह मरण दुःखदायी है जो समाज द्वारा किये गये व्यतिक्रम से जीवन के न पनप पाने के कारण पछतावा दे जाता है। सबसे बड़ी कमी समाज में स्नेह-सहयोग का अभाव है। आज स्थिति यह है—'धनियों के हैं धनी, निर्बलों के ईश्वर।' किन्तु 'दैवो दुर्बल-घातकः।' ऐसे अवसर पर हम भाग्य की इच्छा कह कर मन को भुला लेते हैं। परमात्मा करे, आज के सामूहिक आन्दोलन अपनी सफलता में इतने शुभ हों कि अकिञ्चनों का जीवन भी साधन-सम्पन्न हो। तभी मेरी बहिन-जैसी आत्माएँ इसी वसुधा को स्वर्ग मान कर यहाँ सुखी होंगी।"

'सञ्चारिणी का निवेदन लिखते समय मुझे जीवन से निराशा हो गयी थी। अन्त में मैंने लिखा—"सञ्चारिणी पाठकों के सामने उपस्थित करते हुए मेरे हृदय में अथाह व्यथा है। विधवा बहिन की छाया में पले होने के कारण मेरे अन्तःसंस्कार बहुत कोमल हैं। ममता के अञ्चल में ही यह कोमलता खिलती रही है। आज की दुर्द्धर्ष परिस्थितियों में इतना कोमल जीवन आगे कहाँ तक पनप सकेगा, मैं नहीं जानता।'

राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी समवेदना के पत्र में

लिखा—"आप पर जो विपत्ति पड़ी है उसके लिए क्या कह कर आपको सान्त्वना दूँ, समझ में नहीं आता। बहिन नहीं, वे आपकी माता भी थीं। परन्तु आप जानते हैं, हम लोग तो साधारण हैं, बड़ों-बड़ों का यहाँ वश नहीं चलता। संसार में मुझे तो सहन करना ही बड़ा जान पड़ता है, प्रभु आपको सहने की ही शक्ति प्रदान करें। आप न जाने कितने कष्टों से जूझते आये हैं। अब समझ लीजिये कि यह अन्तिम है और इसके पीछे विजय।"

जीवन से निराश हो जाने पर भी साहित्य में मैं निष्क्रिय नहीं रह सका। बहिन तो मौन हो गयी थी, किन्तु उसकी वेदना ने मुझे उद्वेलित कर दिया। व्यक्तिगत सुख-दुख को मैं समाजवादी दृष्टिकोण से देखने लगा। 'युग और साहित्य' लिखने लगा। सन् १६४० में वह प्रकाशित हुआ। उसकी भूमिका ('अपनी बात') में मैंने लिखा है—

"मैंने तो अपनी पिछली पुस्तक 'सञ्चारिणी' के साथ ही एक प्रकार से पाठकों से विदा ले ली थी। उस समय अपने जीवन की एकमात्र निधि बहिन कल्पवती देवी के निधन से मैं सर्वस्व-शून्य हो गया था।... बहिन के अभाव में मुझे पहिली बार वास्तविकता का बोध हुआ, पहिली बार मैं काव्य की सरलता से समाज की जटिलता के परिचय में आया।......आज सोचता हूँ, यदि पृथ्वी पर अपने अस्तित्त्व को रक्षित रखना है तो अपने और अपनी बहिन के आँसुओं को कुछ शक्ति देनी होगी। इसी लिए एक बार मैं फिर जी उठा।

......आज मेरा शैशव बहिन की मृत्यु के साथ अन्तिम साँस लेकर चिता की लपटों की आँच पा गया है। आज मेरे हृदय के एक पार्श्व में माँ-बहिनों की कोमल संस्कृति है, दूसरे पार्श्व में निःसहाय अश्रुओं की उद्वेलित उत्क्रान्ति।

आज मेरे एक ओर छायावाद और गान्धीवाद है, दूसरी ओर समाजवाद है। मैंने अपनी बहिन के भीतर जिस उज्ज्वल आत्मा का दर्शन किया था उसी की प्रेरणा से मैं छायावाद (भाव) और गान्धी-वाद (संस्कृति) को अपना लेता हूँ। किन्तु वैसी आत्माओं के लिए इस पृथ्वी पर ठौर-ठिकाना नहीं है। उनका जीवन आठ-आठ आँसू रोने के लिए रह गया है, या, सन्तापों से पृथ्वी की छाती फाड़ कर सीता की तरह उसी में समा जाने के लिए। जीवन की इस करुण विडम्बना की आवृत्ति पुनः पुनः न हो, इसी लिए युग-धर्म्म के रूप में समाजवाद को भी स्वीकार कर लेता हूँ।......

हमारा अब तक का शरीर (समाज) एक दम सड़ गया है, जिसके भीतर चेतना पीड़ा से छटपटा रही है। फिर भी उसकी विवर्ण मुखा-कृतियों (साहित्य, कला, सङ्गीत, सभ्यता) में ही हम उसके भाव और संस्कृति का सौन्दर्य्य और माधुर्य्य देखते आ रहे हैं, मानों युग-युग की पीड़ा के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। साहित्य और कला के नाम पर एक बहुत बड़ी छलना लेकर हम जीवन का मिथ्या अभिनय कर रहे हैं। अब इस प्रवञ्चना का अन्त होना चाहिये। युग-युग की पीड़ित चेतना को उसके रुग्ण शरीर से मुक्ति देनी चाहिये। भावी युग में आत्मा (छायावाद और गान्धीवाद) की अभिव्यक्तियाँ (भाव और संस्कृति) भी चेतना का प्रकाश बन कर प्रस्फुटित होती रहेंगी, किन्तु वे समाज-वादी मानव के उत्फुल्ल मुखमण्डल पर ही स्वस्थ मुद्राएँ अङ्कित कर सकेंगी, अभी तो वे मुरझाये मुखों पर फूलों की म्लान छवि जैसी हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने युग-द्वन्द्वों और तज्जनित भावी सम्भावनाओं को अपने साहित्य के माध्यम से उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। मैंने 'वादों' से विवाद नहीं किया है, हाँ, वादियों की विडम्बना की ओर सङ्केत अवश्य किया है। किन्तु मेरा उद्देश्य शुभ है। द्वन्द्व नहीं,

ऐक्य; विभाजन नहीं, संयोजन; वैषम्य नही, सामञ्जस्य मेरा लक्ष्य है। मैं समन्वय की ओर हूँ, अतएव विवादी स्वर के बजाय संवादी स्वर द्वारा जीवन के लय से अभिन्नता स्थापित करने का मैंने यत्न किया है। आदर्शवाद-यथार्थवाद, छायावाद-प्रगतिवाद, गान्धीवाद-समाजवाद को परस्पर विभक्त न कर, उन्हें मैंने द्वन्द्व समास बना दिया है।"

'युग और साहित्य' की उक्त पंक्तियों से मेरी उस समय की मानसिक स्थिति का आभास मिलता है। मानों अपनी बात कहने के लिए ही मेरा मूर्च्छित स्वास्थ्य सँभल गया था, मस्तिष्क स्वच्छ एवं परिष्कृत हो गया था। वह मेरी प्राञ्जलतम कृति है। किन्तु उसका यथेष्ट स्वागत नहीं हुआ। समाजवाद के समर्थन के कारण छायावादियों ने असन्तोष प्रकट किया, छायावाद की स्थापना के कारण प्रगतिवादियों ने विरोध किया। ये दोनों दल एक दूसरे के प्रति अनुदार थे। उनमें स्वभावतः वही सङ्कीर्णता थी जो पूँजीवादी समाज में वर्त्तमान है। उन्होंने जनता को अपना आत्मोत्सर्ग नहीं दिया था।

'युग और साहित्य' के बाद मैं फिर उन्हीं पुरानी परिस्थियों में जीवन-यापन करने लगा। घर में बहिन का जो वात्सल्य सुलभ था उसके दुर्लभ हो जाने पर मेरे लिए घर-बाहर चारों ओर अभाव ही अभाव रह गया था। संस्कारतः अब भी मैं भावुक था, अपनी भावना की तृप्ति के लिए मृगतृष्णा में भटकता रहता था। भटकते-भटकते सङ्कट-ग्रस्त हो जाता था।

ऐसे ही दिनों में एक बार इलाहाबाद गया। अपने सहज-स्वभाव से मैंने अपनी व्यथा-कथा उस मित्र से कही जो भीतर से विद्वेषी होते हुए भी ऊपर से आत्मीयता का सफल अभिनय करता रहा है। मेरी स्थिति मेले में भूले हुए उस बच्चे की-सी है जिसे कोई भी फुसला सकता है।

जिससे दो मीठे बोल सुनता हूँ, मृग की तरह अपनी वस्तुस्थिति भूल कर उसी का विश्वास कर लेता हूँ। पहिले मुझे शत्रुमित्र की पहिचान नहीं थी। अब अनुभवों से आदमी की पहिचान हो जाने पर भी ठगा जाता हूँ। मेरी इस भावजन्य सरलता से जो अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है वह कभी न कभी स्वयं अपनी ही नीति का शिकार हो जाता है। मुझे प्रतिकार की आवश्यकता नहीं।

उस मित्र ने मेरी व्यथा-कथा का सदुपयोग नहीं किया। उसने उन्हें मेरी ओर से विमुख कर दिया जो बहिन के बाद मेरी अभिभाविका और शुभेच्छुका थीं।

बहिन के अभाव में जब कि मुझे ममता की सबसे अधिक आवश्यकता थी तब मुझे छलना मिली। वह तो पहिले ही से मिलती आ रही थी, किन्तु उस समय तक मैं समाज के खोखलेपन से अनजान था, कारण, बहिन ने अपने वात्सल्य से मेरी शून्यता को भर रखा था। उसके हटते ही वस्तुस्थिति स्पष्ट हो गयी। जिस मित्र ने आत्मीयता का अभिनय किया उसने साहित्यिक मतभेद का प्रतिशोध वैयक्तिक लाञ्छन लगा कर लिया। 'युग और साहित्य' में मैंने उस मित्र को स्थान नहीं दिया था। जिन्हें मेरे प्रति करुणा थी वे भी साहित्यिक कारणों से मुझसे सन्तुष्ट नहीं थीं, उन्हें भी असन्तोष प्रकट करने के लिए एक अवसर मिल गया। लोग वैयक्तिक विद्वेष को साहित्यिक मतभेद बना देते हैं। मेरे साथ उलटा हुआ—साहित्यिक कारण को ही वैयक्तिक बना दिया गया। प्रकारान्तर से यह मेरे विचार-स्वातन्त्र्य का सामाजिक बहिष्कार था

आज जब कि छोटे-से-छोटे स्वार्थ के लिए छल-प्रपञ्च और जघन्य मिथ्या व्यापार चल रहा है, कलियुग अपनी चरम सीमा पर संक्रमण

कर रहा है, मैं अभावों में भी अपने लक्ष्य से विचलित नहीं होना चाहता। यदि स्थापित स्वार्थों के साथ अपने को समरस कर पाता तो मेरे लिए भी लौकिक सफलता का द्वार खुल जाता, लोगों की प्रशंसा का पात्र बन जाता। किन्तु उसके लिए न तो उत्साह है, न अवकाश। अपनी ही आकाश-वृत्ति में सन्तुष्ट हूँ, सरस्वती की आराधना में निष्ठावान ब्राह्मण की तरह एकाग्र हूँ। सर्वहारा होकर भी आत्महारा नहीं हूँ। जिसके जीवन में बहिन की स्मृति अभी शेष है वह सर्वांशतः सर्वहारा भी कैसे हो सकता है!

जीवन के प्रभात में जिनसे मेरा सर्वप्रथम साहित्यिक परिचय हुआ, आज जीवन के मध्याह्न में उन्हीं तेजस्वी बन्धु पाण्डेय बेचन शर्म्मा 'उग्र' जी के आप्तवाक्य मेरे सामने हैं। सन् १९३२ में अपने एक पत्र में उन्होंने मुझे लिखा था—

"न्याय और सत्य के लिए जिसके दिल में जगह है वह जरूर उन्नत और यशी होगा। उसकी सुगति मेरे आशीर्वाद के लिए रुकी न रहेगी। मैं साहित्यिक-धूर्त्तों, बनियों और कपटाचारियों का विरोधी हूँ—तुम पर मेरा राग नहीं। अच्छा-बुरा तुम्हें वह कहे-समझे जिसका कोई मतलब हो—मेरी नज़र में तुम ठीक हो और अपनी विशेषता रखने वाले हो......।"

... ...

युग की यथार्थता से अवगत होकर भी मैं स्वच्छन्द नहीं हो सका। किशोरावस्था में सांसारिक अनुभवों से अनभिज्ञ होने के कारण बाह्यजगत के प्रति आकर्षित होकर इधर-उधर भ्रमण किया करता था, किन्तु बचपन से गार्हस्थिक वातावरण में मेरे अनजाने जो शुभ संस्कार सञ्चित

होते जा रहे थे वे बहिन के बाद मेरे जीवन में जागरूक हो गये, मैं प्रकृतिस्थ हो गया, अन्तःसंस्कारों ने मुझे छन्दोबद्ध कर दिया।

जिस शिवभूमि में बहिन के पञ्चतत्त्व बिखर गये उसी भूमि में अपने को भी विलीन कर देने के लिए मैं काशी में ही रह गया। धार्म्मिक श्रद्धा ने मुझे गृह-हीन गृहस्थ बना दिया।

एक दिन जहाँ एक मिनट के लिए भी नहीं आता था, बहिन के श्राद्ध-संस्कार के लिए जो यहाँ रुका तो यहीं रह गया। मैं भूल गया कि बहिन के संरक्षण में कभी मेरा भी अपना कोई संसार था।

सामाजिक वातावरण अरुचिकर होते हुए भी यहाँ का प्राकृतिक वातावरण मनोहर है। बनारस की सँकरी आबादी से अलग लोलार्क कुण्ड का मुक्त प्राङ्गण सामने है, मस्तक पर हृदय की हरीतिमा की तरह सुशोभित वट वृक्ष की सात्त्विक छाया है, नीचे पतितपावनी गङ्गा का अमृत-स्रोत अहरह बह रहा है। प्रकृति के इसी वातावरण में बहिन का अन्तःकरण निवास कर रहा है।

सूक्ष्म आत्मा अपने अनुरूप सूक्ष्म अधिवास चाहती है। आज जिस कमरे में रहता हूँ वह अपनी संक्षिप्तता के कारण बहिन को बहुत पसन्द था। उसे शैशव की तरह सभी कुछ नन्हा-नन्हा ही प्यारा लगता था, कवि की तरह मानों वह भी लघिमा पर न्यौछावर होकर कहती थी—'प्राण, तुम लघु लघु गात।'

बहिन की स्मृति में मेरा यह कमरा 'कल्पवती-कुटीर' बन गया है। वर्षों से मैं इसी मन्दिर में उसकी स्मृति की अर्चना और सरस्वती की आराधना करता आ रहा हूँ। 'सञ्चारिणी' के बाद की रचनाएँ यहीं लिखी गयी हैं। कल्पवती-कुटीर के पार्श्व में ही गोस्वामी तुलसीदास

का वह अन्तिम आवास है जहाँ वे अपना क्षर शरीर छोड़ कर अक्षरों में ही जीवित रह गये। स्मृतियों के इसी वायुमण्डल में मैं साहित्यिक साँस ले रहा हूँ।

आज साहित्य में साहित्यकार जिस जनता की आवाज सुना रहे हैं उसी जनता के बीच में मेरा जीवन प्रवाहित हो रहा है। मैं तो जनता से भी अधिक जनता हूँ। जनता की तरह सुरुचि को छोड़ कर स्वार्थों के लिए संघर्ष नहीं कर सकता। जनता की विरासत केवल अकिञ्चनता ही मुझे मिली है।

अविवाहित होते हुए भी गृहस्थी के वातावरण में मैं गृहस्थ से भी अधिक गृहस्थ हो गया हूँ। एक गृहस्थ अपने लिए जीता है, मैं अनेक गृहस्थों के लिए जी रहा हूँ। बहिन के सुख-दुख में कोई भी सहायक नहीं हुआ, किन्तु संसार से उसके विदा होते ही सभी रिश्तेदारों ने मुझे जकड़ लिया है। यह पीड़ित जनता का वह कृषक-समूह है जिसे पूँजीवाद ने निराधार कर दिया है। यह समूह कभी बहिन को घेरे रहता था, बहिन स्वयं भूखी-प्यासी रह कर अपने स्वल्प साधन से सबका स्नेह-सम्पादन करती थी। अब बहिन के न रहने पर ये कृषक, भाई की ही आकाशवृत्ति से अपने लिए आधार चाहते हैं। अपनी साहित्यिक संवेदनशीलता से प्रेरित होकर बहिन की स्मृति में मैं यथाशक्ति इन्हें अपना सहयोग देता रहता हूँ। फिर भी इन्हें सन्तोष नहीं होता। न जाने कैसे इन लोगों में यह धारणा बन गयी है कि सरस्वती का सेवक लक्ष्मी का भी कृपापात्र होगा।

देश में विपन्नों की संख्या तो अपरम्पार है। उनके अभावों को तो सरकार और धार्मिक संस्थाएँ ही पूर सकती हैं। तब तक अपना कर्त्तव्य

निभाये जा रहा हूँ। साहित्य को सींचने के लिए जैसे अपना रक्त दे रहा हूँ वैसे ही संस्कृति को सींचने के लिए भी रक्तदान करता जा रहा हूँ। सोचता हूँ, यदि ये कृषिजीवी गृहस्थ मिट गये तो साहित्य और संस्कृति का कोई अस्तित्त्व नहीं रह जायगा।

काशी,
५ अक्टूबर, १९५२

रचनात्मक दृष्टिकोण

काशी,
६ अक्तूबर, १९५२

सन् १९४१ में 'कमला' छोड़ कर फिर आर्थिक दृष्टि से निरवलम्ब हो गया। मेरे छोड़ते ही 'कमला' बन्द हो गयी।......

दूसरा महायुद्ध चल रहा था। व्यापारियों को खूब लाभ हो रहा था। उनकी आय कई गुना बढ़ गयी थी। किन्तु मेरे-जैसे हिन्दी-लेखक की स्थिति 'न सावन सूखा, न भादों हरा' थी।......

महायुद्ध के आकाश में छाये हुए धूएँ के बादलों में बिजली की कौंध की तरह एक जाज्वल्यमान व्यक्तित्व दमक उठता था। वह था महाप्राण हिटलर जो विश्व के राजनीतिक रङ्गमञ्च पर प्रलयङ्कर ताण्डव कर रहा था। बोलता था तो भूकम्प गूँज उठता था, चलता था तो तूफ़ान पदध्वनि बन जाता था। मस्तक पर तरुणों-जैसा केश-कलाप, वक्षस्थल पर अमृतपुत्रों का स्वस्तिक चिह्न, ओठों पर झल्लाये हुए शिशु का दृढ़ असन्तोष, जिह्वा पर काल-भुजङ्गम का विक्षुब्ध आक्रोश, पलकों पर उज्ज्वल भविष्य का विजय-स्वप्न ! कैसा था वह कोमल-कराल क्रान्तिकारी !!

कहते हैं, वह चित्रकार था। जर्मनी की सड़कों पर भूखा-प्यासा कला की साधना करता रहता था। एक बार अपने चित्र का पारिश्रमिक लेने किसी धनाढ्य महिला के द्वार पर गया तो उसने खिड़की से झाँक कर दुतकार दिया। कला के शोषित और तिरस्कृत वर्ग का वही श्रमजीवी विश्व के रङ्गमञ्च पर विप्लव का नटराज हो गया। उसके राजनीतिक सिद्धान्तों से सहमत न होते हुए भी मेरे हृदय में उस कलापुजारी के लिए बहुत-बहुत स्नेह और सम्मान है। आज भी जब उसे याद करता हूँ तो ऐसा जान पड़ता है कि अपना ही कोई कहीं खो गया।

......आर्थिक चिन्ता से मुझे फिर डाँवाडोल हो जाना पड़ा। देखते-देखते सन् १९४२ का अगस्त-आन्दोलन छिड़ गया। मुझ-जैसों के अरक्षित जीवन का ही वह सार्वजनिक विक्षोभ था।

न जाने कहाँ-कहाँ भटकता हुआ मैं लखनऊ जा पहुँचा। वहाँ मुझे श्री दुलारेलाल भार्गव का आश्रय मिला। पहिली बार मैंने उन्हें निकट से देखा-पहिचाना। वे केवल प्रकाशक ही नहीं, साहित्यिकों के सहृदय सहायक भी हैं। शायद ही कोई साहित्यकार उनके द्वार से निराश लौटा हो। वे दिल के धनी हैं। गृहस्थों की माया-ममता, सेवा-समवेदना से उनका हृदय ओत-प्रोत है। स्वयं तो अपने प्रति लापरवाह रहते हैं, किन्तु जिसे अपना लेते हैं उसे घरवालों से भी अधिक मानते-जानते हैं। मुझे उनके स्नेह के वातावरण में स्वास्थ्य और विश्राम मिला।

लखनऊ के उस प्रवास में मैं अपनी आगामी पुस्तक की रूप-रेखा बनाने लगा। ऋतुओं में सबसे प्यारी शरद ऋतु आ गयी थी। कोई आर्थिक आधार न होने पर भी उसकी शुभ्रता मुझे शुभ जान पड़ी। मैं बनारस के लिए चल पड़ा।

उस वर्ष पंजाब के विद्यार्थियों में 'सञ्चारिणी' का अच्छा प्रचार हुआ था। अपनी नयी पुस्तक लिखने के लिए मुझे आर्थिक अवलम्ब मिल गया। मैं 'सामयिकी' लिखने लगा।

बनारस में फिर घरेलू नीरसता से घिर गया। एकरस-नीरस वातावरण में मेरा जीवन निश्चल हो जाता है। ऐसे अवसरों पर मुझे कृत्रिम मादकता से अपने को अनुप्राणित करना पड़ता है।

सन्' ३२ में रोटी की समस्या से मेरा मस्तिष्क क्षीण हो गया था, सन्' ४३ में सेक्स की समस्या से शरीर अस्वस्थ हो गया।

रोटी और सेक्स की समस्या से उत्पीड़ित होकर भी मैंने इसे उस रूप में अङ्गीकार नहीं किया जिस रूप में यथार्थवादी लेखक इसका प्रचार करते हैं। मैंने इस समस्या को व्यक्तिगत दृष्टि से नहीं देखा। व्यक्तिगत दृष्टि से इस समस्या को सुलझा लेने पर वे सार्वजनिक कारण बने रहेंगे जिनसे किसी का भी स्वार्थ सुरक्षित नहीं रह सकता। मुझे यह समस्या उन सङ्कुचित महत्त्वाकांक्षाओं का दुष्परिणाम जान पड़ी जिनसे हार्दिकता का अभाव और सामाजिकता का ह्रास होता जा रहा है। 'सामयिकी' के 'युग-दर्शन' शीर्षक आरम्भिक लेख में मैंने लिखा है—

"सच तो यह है कि आज आर्थिक स्वार्थों को लेकर ही सामाजिक सम्बन्ध बने हुए हैं। तन, मन, धन—इन तीनों में धन ही प्रधान होकर तन-मन का मूल्य निर्द्धारित करता है; तन को मूल्य देकर वह वेश्याओं का समाज बनाता है, मन को मूल्य देकर गार्हस्थिक समाज। किन्तु दोनों के मूल में जीवन केवल आर्थिक स्वार्थों का व्यापार-मात्र है। स्पष्ट शब्दों में, आज मनुष्य सामाजिक प्राणी नहीं बल्कि आर्थिक प्राणी है। समाज नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। आर्थिक हानि-लाभ को लेकर परस्पर जुड़ने-टूटने वाले सम्बन्धों का नाम ही समाज पड़ गया

है। निम्नवर्ग से लेकर उच्चवर्ग तक, सभी एक ही पूँजीवादी टाइप-फाउन्डरी में ढले हुए हैं। टकसालों में ढले हुए छोटे-बड़े सिक्के यदि मानव-आकार धारण कर एक-दूसरे से स्वार्थ-संघर्ष कर बैठें तो उस संघर्ष का जो रूप होगा वही आज शोषित और शोषकों तथा दीनों और सम्पन्नों के संघर्ष का है। सिक्कों के संघर्ष से द्रव्यागार में जो अशान्ति फैलती वही अशान्ति आज व्यक्तियों के संघर्ष से समाज में फैली हुई है।"

क्या पूँजीवाद के अन्त से आज की अशान्ति का भी अन्त हो जायगा? मैंने 'सामयिकी' में कहा है, पूँजीवाद के साथ-साथ यन्त्रवाद का भी अन्त होना चाहिये। गान्धीजी के साधन और साध्य को सामने रख कर मैंने सभी समस्याओं को आन्तरिक दृष्टि से देखा है।

सुख-शान्ति के लिए मनुष्य का स्वाभाविक पुरुषार्थ और तदनुकूल अन्तःपरिष्कार ही कल्याणकारी हो सकता है। 'सामयिकी' के 'प्रगतिवादी दृष्टिकोण' में मैंने लिखा है—"आज समस्या आत्मनियमन की है, इस रूप में यह सांस्कृतिक समस्या है। सामग्रियों का उत्पादन जनसंख्या के लिए नहीं, आत्मलिप्सा के लिए हो रहा है।......यदि स्थिति ऐसी ही भ्रमात्मक बनी रही तो यन्त्रों की अपार उन्नति होने पर भी उत्पादन की समस्या ज्यों की त्यों बनी रहेगी। पृथ्वी पर यन्त्रों का अधिक भार पड़ने से वह बंजर हो जायगी। इस तरह तो समस्या हल नहीं होगी। समस्या हल होगी मिताचार से। मिताचार ही भोगवाद को साधना की ओर ले जायगा। बिना मिताचार के समाजवाद में भी वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक अपव्यय होता रहेगा। यदि आत्मनियमन नहीं है तो विधान-द्वारा भी यह अपव्यय नहीं रुक सकता।"

'युग और साहित्य' में समाजवादी दृष्टिकोण प्रधान था। 'सामयिकी' में वह दृष्टिकोण गौण हो गया। सिद्धान्ततः समाजवाद तथा प्रगतिवाद

मनुष्य को व्यक्तिवाद से ऊपर उठाता है, इसीलिए 'सामयिकी' में भी उसे ऐतिहासिक स्थान मिला है। किन्तु व्यवहारतः उसमें हार्दिकता और समवेदना की अपेक्षा प्रतिशोध, प्रतिस्पर्द्धा और आत्मलुब्धता का ही सामूहिक संगठन अथवा पूँजीवादी विकृतियों का रूपान्तर है, कोई सुसंस्कृत चेतना नहीं। ऐसे संगठन में पशुवृत्तियों को तामसिक तृप्ति मिल सकती है, किन्तु मेरी बहिन-जैसी सांस्कृतिक आत्माओं को शान्ति नहीं मिल सकती। एक विशेष आचार-विचार के वातावरण में मेरे भी जो संस्कार बन गये हैं वे किसी भी देहात्मवाद में पनप नहीं सकते।

'सामयिकी' लिखते समय आहार-विहार की असुविधा से मेरा शरीर मृतप्राय हो गया था, किन्तु बल्मीक के भीतर ढँके जीव की तरह चेतना भीतर स्पन्दित हो रही थी। बाहर से तिमिराच्छन्न होकर भी मैं अपने अवचेतन मन से 'सामयिकी' लिखता रहा। अपनी सभी पुस्तकें प्रायः इसी तरह लिखी हैं। 'सामायिकी' के 'दो शब्द' में मैंने कहा है—"गान्धीवाद अन्तःस्पन्दन की भाँति अन्तस् में था। प्रस्तुत पुस्तक में वही अन्तः स्पन्दन (गान्धीवाद) मुख्य संवेदन बन गया है। स्वयं मेरा दैनिक जीवन तो वस्तविकताओं का भुक्तभोगी है, किन्तु मनुष्य के जीवन का उद्देश्य दैनिक अभाव-भराव के ऊपर है, अतएव सांस्कृतिक प्रयत्नों को विशेष महत्त्व देता हूँ।"

'सामयिकी' के लेखन-काल में स्वास्थ्य-सुधार के लिए मैंने सहारनपुर, हरिद्वार, देहरादून, मंसूरी और काश्मीर का भ्रमण किया। स्वास्थ्य के लिए जल-वायु के अतिरिक्त निर्द्वन्द्वता और स्नेह का वातावरण चाहिये, वह मुझे लखनऊ में भार्गव जी के यहाँ सुलभ था, किन्तु वहाँ लिखने के लिए एकान्त नहीं था। अन्त में 'सामयिकी' बनारस की ही जीर्ण-शीर्ण परिस्थितियों में पूरी हुई। 'माडर्न रिव्यू' ने उसकी समालोचना करते हुए लिखा था—"यह पुस्तक साहित्यिक कलाकार की कल्पना का वह

सुवर्ण प्रासाद है जहाँ बैठ कर प्रहरी की भाँति पर्य्यवेक्षण किया जा सकता है।"

अपनी इस सांस्कृतिक पुस्तक को मैंने 'दिवङ्गत संन्यासी पिता के पदपद्मों में' समर्पित कर दिया।

... ...

'सामयिकी' के बाद सन् १९४४ में मध्यभारत हिन्दी-साहित्य-समिति के आग्रह (विशेषतः सुकोमल कहानीकार श्री वीरेन्द्र कुमार जैन के स्नेहानुरोध) से 'वीणा' का सम्पादन करने के लिए इन्दौर चला गया। वहाँ की जल-वायु मुझे अनुकूल पड़ गयी। कोई यान्त्रिक बन्धन न होने के कारण मन पर से भार हट गया। स्वास्थ्य में नवीन कैशोर्य्य आ गया। वर्षों से मुमूर्षु की तरह जिस मूर्च्छित अवस्था में चला आ रहा था उससे छुटकारा पा गया।

'वीणा' के सम्पादकीय पद पर स्थित होकर मुझे पहिली बार तटस्थ द्रष्टा की तरह अपने एकान्त-लोक में सामाजिक चिन्तन का सुअवसर मिला। मेरा ध्यान प्रतिदिन की उन छोटी-छोटी बातों की ओर चला गया जिससे स्वभाव और अभ्यास बनता है, समाज का निर्म्माण होता है।

विचारों और कल्पनाओं के आकाश के नीचे देखने पर मुझे धरती का सामाजिक जीवन बड़ा अशोभन जान पड़ा। लोगों की कुरुचि और कुरूपता से मैं कण्टकित हो उठा। इतने दिनों तक जिस विकृत वातावरण में आत्मविस्मृत की तरह चला आ रहा था, अब उस ओर से उदासीन नहीं रह सका। अरे, इसी वातावरण में मेरा भी जीवन-मरण है। बहिन के सुरुचिपूर्ण सत्संग में सङ्गीत की

स्वर-लिपि की तरह मेरे हृदय में जो सौन्दर्य्य-संस्कार अनजाने सञ्चित होते आ रहे थे वे जनता की असंस्कारिता से मर्म्माहत होकर जाग उठे, संस्कृति और कला के लय में बज उठे।

मैंने देखा, सिद्धान्तवादियों की तरह श्रद्धालु जनता भी अपने सिर पर विचारों और मत-मतान्तरों का भार वहन करती आ रही है, पृथ्वी पर भारवाही पशु की तरह मति-अन्ध होकर चल रही है। उसमें चेतना का सञ्चरण नहीं है। अपने निर्जीव आचरण से उसने इहलोक को नरक बना लिया है, स्वर्ग को परलोक के लिए छोड़ दिया है।

'वीणा' के सम्पादकीय स्तम्भों में मैंने शुचिता और रुचिरता से इसी लोक को स्वर्ग बना देने के लिए संस्कृति और कला का व्यावहारिक पक्ष उपस्थित किया। प्रतिदिन के रहन-सहन की ओर ध्यान दिलाने के लिए मैंने लिखा—

"वस्तुतः संस्कृति और कला है क्या? वह लोकोत्तर चिन्तन मात्र है अथवा उसका हमारे दैनिक जीवन से भी कोई सम्बन्ध है?

आज संस्कृति और कला का परिचय केवल शब्दों में ही मिलता है, जीवन में तो विकृति और कुरुचि ही दीख पड़ती है। इस दिशा में क्या शिक्षित और क्या अशिक्षित, क्या आदर्शवादी और क्या यथार्थवादी, दोनों एक ही सतह पर हैं; उनमें सिर्फ रोजी कमाने के ढंग में अन्तर है।

संस्कृति और कला का सम्बन्ध वर्गों (आर्थिक श्रेणियों) से नहीं, मनुष्य के विवेक और सुरुचि से है। सुरुचि के अभाव में जैसे सुअन्न भी विकृत व्यञ्जन बन सकता है वैसे ही आर्थिक सम्पन्नता में जीवन कुरूप, भोंड़ा और अनगढ़ रह सकता है।

हमारे प्रतिक्षण के रहन-सहन, हाव-भाव, पहनाव-ओढ़ाव, आलाप-संलाप, श्वास-प्रश्वास में यदि चेतना का मनोहर दर्शन नहीं मिलता तो समझना चाहिये कि हम में विवेक और सुरुचि का अभाव है।...

यदि हमारे थूकने-खखारने में भी फूहड़पन है तो हम अभी संस्कृति और कला के ककहरा तक भी नहीं पहुँच सके हैं।......

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ से जब प्रश्न किया गया 'कला को हम कैसे अपने जीवन में ला सकते हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया—'अपने घरों के भीतर प्रति दिन की कलापूर्ण दिनचर्य्या से।' अभिप्राय यह कि हमारे दैनिक कार्य्य-कलाप में सुरुचि और सुघरता का समावेश हो।......

जहाँ जीवन का लक्ष्य केवल आर्थिक है वहाँ संस्कृति और कला का अनुराग म्यूजियमों, कलाभवनों और ड्राइङ्ग रूमों में एक शौक मात्र रह गया है।......

लक्ष्य बापू (गान्धीजी) बदल रहे हैं, और लक्ष्य का सौन्दर्य्य कलाकारों को जनता के जीवन में उतारना है। जगह-जगह शिक्षण-शिविर खोल कर जन-मन का परिमार्जन करना है।......

सिर्फ काव्य, सङ्गीत, चित्र, शिल्प, अभिनय तक ही हमारा कला-प्रयास सीमित नहीं हो जाना चाहिये। इतनी कलाओं के बीच में भी जनता का जो जीवन अनगढ़ रह गया है उसे सुघर (सुघड़) बना देना, यही हमारी ओर से जनता के लिए मौलिक आदान हो सकता है।

. ...जन-संस्कार के लिए पहिले जनता के देनिक जीवन को कलात्मक बनाया जाय। अन्यथा, शेष कलाएँ 'बिना नाल के फेनिल फूल' रह जायँगी।"

... ...

इन्दौर का प्राकृतिक वातावरण स्वास्थ्यकर है, किन्तु सब जगह की तरह वहाँ का भी सामाजिक वातावरण निरानन्द है। जिस युग में मनुष्य आर्थिक जड़ता से जीवित शव बन गया हो उस युग में पूरब-पच्छिम, उत्तर-दक्खिन, संसार के किसी कोने में भी सामाजिक सजीवता की आशा नहीं की जा सकती। 'वीणा' के सम्पादकीय में मैंने लिखा है—

"आज जीवन कितना शून्य हो गया है, इसका परिचय सिनेमा-गृहों की भीड़ देख कर मिलता है। क्या निर्धन, क्या धनिक, क्या शिक्षित, क्या अशिक्षित, सभी अपने-अपने अभावों को छायापट पर परछाईं की तरह मिटती हुई तस्वीरों से भर लेना चाहते हैं। इस प्रकार जीवन के खोखलेपन को सिनेमा देख-देख कर भुलाया जा रहा है। जो चीज समाज में मिल जानी चाहिये वह हमारे लिए सपना होती जा रही है। ...आज सभी वर्गों की एकमात्र परिणति है—निर्जीवता।"

जहाँ स्वयं रिक्तता है वहाँ भला मुझे क्या जीवन मिल सकता है! ऐसे रिक्त और अतृप्त वातावरण में मैं अकेला पड़ जाता हूँ। यदि केवल कवि होता तो प्रकृति के फूलों-पत्तों से ही सन्तोष कर लेता। किन्तु मुझमें भी पार्थिव आकांक्षाएँ हैं। कभी मैंने कहा था—

हृदय चाहता, निविड़ निशा की
किसी कमलिनी में—
बन्दी अलि-सा सो जाऊँ।

मैं भी सुख-दुख से हर्षित-विमर्षित होता हूँ। सामाजिक सहयोग के अभाव में अपने ही भीतर समाहित हो जाता हूँ।

निरन्तर एक ही-जैसी परिस्थिति में रहते-रहते जीवन में एकरसता

(मॉनोटोनी) और नीरसता आ जाती है। कभी-कभी तो ऐसा अनुभव होने लगता है—

"मुर्दे की भींगी राख सदृश भारी है मेरा दिल पत्थर
जब कि पुरवा के मीठे झोंके से हिलता है तृण-तृण तरु-तरु-पर।"

जब दिल और दिमाग को टॉनिक नहीं मिलता, हृदय और मस्तिष्क का रस-पोषण नहीं होता, तब मनुष्य या तो विक्षिप्त हो जाता है या संज्ञा-शून्य हो जाने के लिए कृत्रिम मादकता का सेवन करने लगता है। यह क्लैरोफार्म लेकर कष्ट से छुटकारा पाना है। इस तरह जीवन तो मिलता नहीं, वह और भी दूभर हो जाता है। निराशा की चरम सीमा पर पहुँच कर मनुष्य आत्महत्या कर लेता है।......

इन्दौर के प्राकृतिक वातावरण में मुझे जो स्वास्थ्य मिला उसे मैं सँजो नहीं सका। एकरस-नीरसता से तन-मन विषण्ण हो गया। 'वीणा' के तारों में मेरी हृद्तन्त्री शिथिल पड़ गयी।

मैं फिर ज्यों का त्यों बनारस चला आया।

जीवन में कोई उल्लास न होने पर भी मेरे चारों ओर वायव्य जगत की तरह व्याप्त बहिन की स्मृतियों से मुझे उत्साह मिलता आया है—

"पाथेय मुझे सुधि मिली एक
है विरह-पन्थ सूना अपार।"

अपने युग में मैं जिस नीरसता और निर्जीवता का अनुभव करता हूँ उसे किसी स्वर्गीय निर्म्माण से सजीव कर देने के लिए साहित्य-सृजन में संलग्न रहता हूँ। यही रचनात्मक प्रवृत्ति मेरी जीवनी शक्ति है।

......बनारस आकर मैं 'पथ-चिह्न' लिखने लगा। उसमें बहिन के दिव्य व्यक्तित्त्व का भावात्मक संस्मरण और मेरे श्रद्धालु जीवन का सांस्कृतिक संसरण है। बहिन के पावन पदस्पर्श से 'पथचिह्न' एक काव्य-तीर्थ बन गया है। उसके चरणों में पादार्घ्य की तरह मैंने युग का 'पर्य्यवेक्षण' और 'अन्तःसंस्थान' (अन्तर्निर्म्माण) उपस्थित कर दिया है। बहिन जिस माँ की नवनीत आत्मा थी उसी माँ को समर्पित होकर 'पथचिह्न' निर्म्माल्य भी बन गया है।

'वीणा' के सम्पादन-काल में झंकृत संस्कृति और कला का स्वर 'पथचिह्न' में विशेष रूप से प्रतिध्वनित हो उठा है। 'पर्य्यवेक्षण' में लिखा है—

"संस्कृति : मानव में पशु-प्रवृत्ति की परिष्कृति है, कला उसी की अभिव्यक्ति।...कला के सहयोग से ही संस्कृति साम्प्रदायिकता से मुक्त हो जाती है। उसमें गुणग्राहकता आ जाती है।

संस्कृति और कला का ही अभिन्न नाम धर्म्म है, जैसे स्वर और उसकी रागिनी का नाम सङ्गीत। जनता में धर्म्म की यही नवचेतना जगानी है। यह चेतना कलाकारों द्वारा ही जग सकती है, राजनीतिज्ञों द्वारा नहीं।......

संस्कृति और कला : काव्य की ही प्राणशिराएँ हैं। भाव इनका मर्म्मस्पन्दन है।

भाव के द्वारा ही आज की सारी समस्याएँ भीतर से सुलझ सकती हैं।......

आदेशों, उपदेशों, सिद्धान्तों और शासनसत्ताओं से मनुष्य का अन्तर्गति-रहित शरीर ही सञ्चालित किया जा सकता है, मन स्वतः

चालित नहीं हो सकेगा। मनोगति को स्वालम्बन देने के लिए मनुष्य को अनुभूतिशील, स्पन्दनशील, संवेदनशील प्राणी बनाना होगा। यह तभी सम्भव है जब उसमें भावोन्मेष किया जाय।......

कवित्व के बिना कोई भी तत्त्व हृदय से अङ्गीकृत नहीं हो सकता। इस तथ्य को कम्युनिस्टों ने समझा है। वे अपने जननाट्य संघों द्वारा जनता के बीच पहुँच गये हैं। किन्तु किसी भी कला को राजनैतिक प्रचार का ट्रैक्ट नहीं बनाना है।...

अन्न-वस्त्र की मुखापेक्षी जनता उस ढोर की तरह है जिसे कोई भी राजनीतिक पार्टी आहार-विहार का प्रलोभन देकर अपने पीछे-पीछे हाँक ले जा सकती है। अतएव, उसके हृदय को जीतने के लिए, उसे अन्तः सुज्ञ प्राणी बनाये रखने के लिए, अन्न-वस्त्र के अतिरिक्त उसमें मर्म्मोद्रेक की भी आवश्यकता है। इसीलिए कृष्ण ने गोचारण ही नहीं किया, अपनी वंशी भी बजाई। कला-द्वारा उन्होंने चराचर को उस आत्मीयता के सुर में बाँध लिया जिससे कोई भी विलग नहीं हो सका।"

'पथचिह्न' के 'अन्तःसंस्थान' में मैंने संस्कृति और कला को प्रति दिन के जीवन में सजीव कर देने के लिए सरल स्वाभाविक रचनात्मक सुझाव दिये हैं। यदि उन्हें कार्य्यरूप में परिणत कर दिया जाय तो निःसन्देह समाज का कायाकल्प हो सकता है।

'वीणा' के सम्पादन-काल में संस्कृति और कला के साथ मैंने गान्धी जी के ग्रामोद्योग को भी सम्बद्ध कर दिया था। मेरा दृष्टिकोण समन्वय का था। 'पथचिह्न' (सन् १९४६) में भी भावयोग और कर्म्मयोग का वही समन्वय है।

समन्वय की आवश्यकता वहाँ पड़ती है जहाँ भिन्नता होती है। 'धरातल' के लेखन-काल (सन् १९४८) में मेरे सामने यह स्पष्ट हो

गया कि उद्योग, संस्कृति और कला एक दूसरे से भिन्न नहीं, पर्य्याय हैं। इनका मूल आधार कृषि है। जिस कृषि से अन्न उत्पन्न होता है उसी से संस्कृति की सीता और कला की राधा का भी जन्म होता है। अतएव समन्वय का दुरान्वित दृष्टिकोण छोड़ कर कृषि में ही मैंने उद्योग, संस्कृति और कला का एकान्वय कर दिया। 'प्राक्कथन' में लिखा है—

"धरातल शब्द में श्लेष है, इसमें धरा के तल और जीवन के तल का सन्निवेश है। दोनों तल भू-प्रतिभू हैं, परात्पर हैं।

साधना की जिस स्वाभाविकता से धरा उर्व्वरा बनती है उसी की अनुरूपता से जीवन भी उर्व्वर (विकासशील) बन सकता है। कृषि है जीवन की स्वाभाविक साधना, कृषक हैं वसुन्धरा के 'आत्मा वै जायते पुत्रः।' कृषक की तरह पृथ्वीपुत्र बन कर ही संस्कृति और कला का जीवन्त धरातल प्रस्तुत किया जा सकता है।"

कृषि और कला का वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा हलधर बलराम और मुरलीधर कृष्ण का। 'साहित्यिक संस्थाओं का गन्तव्य' शीर्षक लेख में मैंने लिखा है—"कृषि और कला अथवा कृषक और कलाकार का सहयोग जीविका को सुगम और जीवन को मनोरम बनाने के लिए है। इन्हीं के संयोग से वह सुन्दर सुसंस्कृत जीवन सुलभ होगा जिसकी कामना कवि कर रहा है—

संस्कृत वाणी, भाव, कर्म्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जन-वास, वसन, सुन्दर तन।"

... ...

'धरातल' के बाद मैंने 'ज्योति-विहग' लिखा। इसमें ज्योतिविहग हैं 'सौन्दर्य्य और संस्कृति के कवि पन्त।'

'ज्योति-विहग' (सन् १९५१) में एक तटस्थ परिदर्शक की दृष्टि से मैंने पन्तजी की सम्पूर्ण कृतियों का अनुशीलन-परिशीलन किया है।

'युगवाणी' में पन्तजी 'अपनी युग-परिस्थितियों से प्रभावित होकर' प्रगतिवाद की ओर चले गये थे, 'युग और साहित्य' में मैं बहिन के वियोग से विकल होकर समाजवाद* की ओर चला गया था। इसके बाद सम्मेलन से प्रकाशित 'आधुनिक कवि' के अन्तर्गत पन्तजी के काव्य-संग्रह में उनका 'पर्य्यालोचन' पढ़ने का अवसर मिला। यद्यपि पन्त जी का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था, तथापि उसी में मुझे छायावाद का सांस्कृतिक आधार मिल गया। भारत की संस्कृति कृषि-संस्कृति है, उसी से उस भावना का भरण-पोषण और प्राणोदन हो सकता था जिसका आभास मुझे बहिन के जीवन में मिला था।

'पर्य्यालोचन' में पन्त जी ने प्रगतिवादी विचार-धारा को ऐतिहासिक दर्शन और छायावाद के दृष्टिकोण को प्राकृतिक दर्शन कहा है। 'ज्योति-विहग' के 'प्रगति, संस्कृति और कला' शीर्षक लेख में मैंने लिखा है—

"यदि ऐतिहासिक दर्शन प्रगतिवाद की ओर है तो प्राकृतिक दर्शन भावपक्ष में छायावाद की ओर, कर्म्मपक्ष में गान्धीवाद की ओर।

---

* 'युग और साहित्य' के लेखन-काल में समाजवाद और संघवाद (कम्युनिज्म) का पार्थक्य स्पष्ट नहीं हुआ था, अतएव, दोनों के लिए कहीं तो समाजवाद और कहीं नव-भौतिकवाद शब्द का प्रयोग करना पड़ा। प्रगतिवाद शब्द आ चुका था, किन्तु उसका भी रूप स्पष्ट नहीं हुआ था। प्रायः संघवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद और प्रगतिवाद पर्य्याय समझे जाते थे। उस समय की स्थिति के अनुसार 'युग और साहित्य' में समाजवाद इसी व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है।

सम्प्रति छायावाद के मुरझा जाने का कारण ग्रामोद्योगों का ह्रास है। दूसरे महायुद्ध के बाद अब सभी देशों के औद्योगिक विशेषज्ञ ग्रामोद्योग का गुणगान करने लगे हैं। निकट भविष्य में यन्त्रोद्योगों से अकाल-निवारण का प्रयास विफल हो जाने पर जब सभी देशों को ग्रामोद्योगों का आश्रय लेना पड़ेगा तब विश्व-साहित्य में पुनः छायावाद का युग आयेगा। वह उसी तरह खिल उठेगा जैसे ग्रामगीतों और लोककथाओं का भाव-जगत खिल उठा था। मुरली के लिए अधर की तरह छायावाद के भावयोग के लिए ग्रामोद्योग पार्थिव आधार है।"

... ...

'ज्योति-विहग' के लेखन-काल में मैं फिर नीरस परिस्थितियों से भाराक्रान्त हो गया। मेरी शारीरिक स्थिति तो बचपन से, मुख्यतः सन् '३२ से, बराबर वैसी ही बनी रहती है जैसी सन्' ४४ की रुग्णता के बाद सन्' ४५ में दिल्ली से मद्रास जाकर स्वास्थ्य-लाभ करते समय पन्तजी की थी। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था—"जरा सा आयास के काम करने से थकान मालूम होती है।...इस विकट बीमारी ने जैसे मेरी समस्त स्नायविक शक्ति को चूस लिया है।......"

पन्तजी हमारे साहित्य के लिए एक वरदान हैं। न जाने कितनी प्रतिकूल परिस्थितियों में वे काव्य साधना करते आ रहे हैं। दो बार (सन्' २६ और सन्' ४४ में) सांघातिक रूप से अस्वस्थ होकर साहित्य के सौभाग्य से ही पुनर्जीवित हो उठे हैं। किस प्रेरणा से, किस शक्ति से?—

"शीत, ताप, झंझा के सह बहु बार,
कौन शक्ति सजती जीवन का वासन्ती शृंगार?"

प्रतिकूल परिस्थितियों में सुरुचि के साधक को इसी तरह जीवन की सौन्दर्य्य-साधना करनी पड़ती है।......

'ज्योति-विहग' लिख कर मुझे उतना ही हार्दिक सन्तोष हुआ जितना 'पथचिह्न' लिख कर। दोनों पुस्तकों में मैं अपनी आस्था को यथेष्ट अभिव्यक्ति दे सका हूँ।

इस युग में मेरी स्थिति 'ग्राम्या' के ग्राम-मनुजों की-सी है। उन्हीं की तरह मुझे भी पन्त जी की 'बौद्धिक सहानुभूति' मिलती रही है। उससे भी अधिक उनकी रचनाओं से भाव, वाणी और विचार पाता रहा हूँ।

सन्' ४५ में पन्तजी ने अपने साम्यवादी मित्रों को सन्देश देते हुए लिखा था—"मैं तो आप ही लोगों से अपने मन के लिए भोजन और प्रेरणा पाता हूँ। मेरे प्राण सौन्दर्य्यवादी हैं, और मेरा सौन्दर्य्य लोकप्राण (लोकचेतना) है...।"—पन्तजी के कवि-व्यक्तित्व के प्रति मेरा भी यही उद्गार है।

काशी,
१६ अक्तूबर, १९५२

सौन्दर्य्य-दर्शन

काशी,
१४ नवम्बर, १९५२

फिरती हैं नीरव नयनों में
छायाछवियाँ मनमोहन
ज्यों बरस-बरस पड़ने को
हों उमड़-उमड़ उठते घन।

—('गुञ्जन')

प्रकृति के दृश्यों की तरह ही मेरे चारों ओर मनुष्यों की भी शोभा का संसार खिला हुआ है। सृष्टि के इस रेले-मेले में कुछ विशेष मुखाकृतियाँ मेरे मन को भा जाती हैं, वे मेरी ही अन्तरात्मा की प्रतिलिपियाँ जान पड़ती हैं, मैं उन पर मुग्ध हो उठता हूँ, उनसे अपनापन जोड़ लेना चाहता हूँ।

बचपन से ही प्रत्येक प्राणी सौन्दर्य्यप्रवण होता है। मानव-शिशु खिलौनों के रंग से आकर्षित होकर खेलता है, तितलियों के पीछे-पीछे दौड़ता है, चाँद को देख कर उसे पकड़ना चाहता है, सितारों को देख कर उनमें खो जाता है।

बचपन में सबके मानसिक तन्तु एक-से ही कोमल और अविकच होते हैं, अतएव सभी की सौन्दर्य्य-दृष्टि भी एक-सी ही रहती है। इसके

बाद शारीरिक, मानसिक और सामाजिक स्थिति के अनुसार दृष्टिकोण में परिवर्त्तन होता जाता है। यहाँ तक कि वह बाह्य जगत (स्थूल वस्तु-जगत) तक ही सीमित रह जाता है

मेरी शारीरिक मानसिक और सामाजिक स्थिति में आज भी कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। मेरी आँखों में सौन्दर्य्य की वही नैसर्गिक दृष्टि है जो बचपन की नयी कोरी आँखों में थी। शैशव तो प्यारा लगता ही है, किन्तु मैं किशोर-किशोरियों, तरुण-तरुणियों, युवक-युवतियों के सौन्दर्य्य में भी उसे ही खोजता रहता हूँ। सौन्दर्य्य में शैशव का सारल्य चाहता हूँ।

मुझे वे ही मुखाकृतियाँ आकर्षित करती हैं जिनमें शैशव की रेखाएँ शेष हैं। उन्हें ही सम्बोधित कर मैं भी कवि के शब्दों में बोल उठता हूँ—

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने,
मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर पहिचाने!

* *

पृथ्वी की प्रिय तारावलि!
जग के वसन्त के वैभव!
तुम सहज सत्य सुन्दर हो,
चिर आदि और चिर अभिनव!

जिन चलते-फिरते कलि-कुसुमों को मैं प्यार करता हूँ उन्हें स्तवक की तरह संयोजित कर, सौन्दर्य्य का एक स्वर्गिक समाज बना कर उसी में जीवन पा जाना चाहता हूँ। वंशीधर गोपाल ने भी तो ऐसा ही सुन्दर समाज बना कर व्रजवीथियों में वन-विहार किया था। प्रकृति के

प्राङ्गण में उन्होंने गो, गोपी; गोपकुमार का एक मधुर मनोहर परिवार बना लिया था। प्राकृतिक जगत और मानवीय जगत उस परिवार में एकाकार हो गया था। प्रकृति से समरस होकर जीवन एक सरस समारोह बन गया था।

कृष्ण की तरह ही मैं मधुकर हूँ, वनमाली हूँ। सौन्दर्य्य के साथ खेलना भी चाहता हूँ और स्नेह से, सुरुचि से उसे सींचते भी रहना चाहता हूँ।......

बचपन में सभी के सलोने मुख बड़े सुन्दर लगते हैं। यहाँ तक कि साँप का सँपोला भी सुहावना लगता है।

बचपन में जो मुख सुन्दर सुमुख दीख पड़ते हैं वे शैशव के जाते न जाते कुछ ही वर्षों में कैसे कुरूप हो जाते हैं! गैंड़े और मेढ़े की तरह भोंड़े लगते हैं। यदि ठीक से उनके जीवन का निर्म्माण होता, उपवन के फूलों की तरह उनका सृजन-सिञ्चन होता, समाज में सौन्दर्य्य-बोध और उसकी रक्षा तथा पूजा का संस्कार होता तो वे कुसुम-मुख चिर-सुन्दर, चिरशोभन बने रहते।

जिन सांसारिक कारणों से बचपन का भोलापन चला जाता है उन्हीं कारणों से उसका सलोनापन भी। न जाने कितने कमनीय कलि-कुसुम जीवन की विषम परिस्थितियों में समाज की गद्य-वास्तविकता के शिकार हो गये!—

"हा, मेरे बचपन-से कितने
बिखर गये जग के श्रृङ्गार,
जिनकी अविकच दुर्बलता ही
थी जग की शोभालङ्कार।"

सौन्दर्य्य मातृअंश है। जिसके रक्त-मांस से शिशु का जन्म होता है उसी की स्निग्धता-कमनीयता से लसित होकर शरीर सुघर हो जाता है। नारी में तो निसर्गतः माता की कोमलता-रमणीयता आजीवन बनी रहती है, किन्तु पुरुष में कालान्तर में परुषता आ जाती है। क्या यह सम्भव नहीं है कि विकट परिस्थितियों में भी राम-कृष्ण और शिव की तरह पुरुष के मुखमण्डल पर शैशव का सरल सौन्दर्य्य अक्षुण्ण रह सके ? मित्रो ! परिस्थितियों को तो हम पुरुषार्थ के कन्धों पर झेलें और मुख पर चिरअजर-अमर-निर्विकार आत्मा की दैवी आभा को प्रतिविम्बित होने दें।

... ...

शरीर तो पञ्चभूतों का एक मृण्मय प्राकृतिक संयोजन है। जिसे हम सौन्दर्य्य कहते हैं वह जड़ सृष्टि में चेतना का सजीव विकास है। 'कामायनी' के कवि के शब्दों में—

उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौन्दर्य्य जिसे सब कहते हैं
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

सौन्दर्य्य में चेतना का ही चारुत्त्व है। निश्चेतन शरीर चिन्मय-रहित मृण्मय मृत्तिकापुञ्ज है, वह मिट्टी का ढेला है, बाहर की रंग-साजी में निर्जीव खिलौना है। कवि पूछता है—

ए मिट्टी के ढेले अजान !
तू जड़ अथवा चेतना-प्राण ?

सौन्दर्य्य सचेतन है, शिव की तरह। असौन्दर्य्य निश्चेतन है,

शव की तरह। कुरूपता शव की तरह ही कुत्सित लगती है। मनुष्यों की असंस्कृत क्रियाएँ प्रेतलीला जान पड़ती हैं।

रज, तम, सत्त्व : इन गुणों के अनुसार ही मनुष्य का रूप बनता है। तामसिक प्रवृत्तियों के लोग राक्षसों की तरह कुरूप लगते हैं। आज के सभ्य मनुष्यों का यह कैसा असभ्य चित्र है!—

"आज प्रतीति न प्रीति हृदय में
औ' उल्लास न आशा,
प्रतिहिंसा, तृष्णा, संशय, भय
नयनों की शर भाषा!"

कुरूपता को प्रश्रय देना समाज में गलत 'मॉडल' को स्थापित करना है।

जब हम कुरूपता को अस्वीकार करते हैं तब चेतना अथवा संस्कारिता की माँग करते हैं। यही माँग बहिन की भी थी। अशोभन को अस्वीकार कर वह लोकजीवन का संशोधन और समाज में सुरुचि का संस्थापन करती थी।

कहते हैं, कभी मनुष्य भी पुच्छ-विषाण-युक्त पशु ही था। उसकी चेतना ने जब उसमें शोभा की भावना जगायी तब वह बिना सींग-पोंछ का मनुष्य हो गया। किन्तु ऐसे भी पशु हैं जिन्हें सींग-पोंछ नहीं है। उन्हीं के लिए कहा गया है—

साहित्य-सङ्गीत-कला-विहीनः।
साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाण-हीनः॥

साहित्य, सङ्गीत, कला, संस्कृति ये सब मनुष्य की चेतना की ही आलोक-रश्मियाँ हैं।

दैनिक जीवन में चेतना को साधने के लिए धर्म्म के अन्तर्गत आहार-विहार और आचार-विचार के सात्त्विक विधान हैं, ये सौन्दर्य्य के ही छन्द-बन्ध हैं। इन्हीं से मनुष्य की आकृति-प्रकृति बनती है। खान-पान का प्रभाव स्वास्थ्य पर और रहन-सहन का प्रभाव स्वभाव पर पड़ता है। अच्छा स्वास्थ्य और अच्छा स्वभाव ही सौन्दर्य्य बन जाता है।

शरीर तो एक नैसर्गिक ढाँचा है, किन्तु सौन्दर्य्य मनुष्य की संस्कृति का सगुण रूप है। नये पात्र की तरह शरीर तो कुछ समय तक ताजा और आकर्षक लगता है, किन्तु वही संस्कृति के अभाव में विकृत होकर कैसा जघन्य और कदर्य्य लगने लगता है!

बाहर के रूप-रंग में जिन्हें हम सुन्दर-असुन्दर कहते हैं वे सभी अपने क्रिया-कलाप में असंस्कृत और फूहड़ जान पड़ते हैं। सुन्दर-से-सुन्दर और असुन्दर-से-असुन्दर शरीर मल-मूत्र का विष्रभाण्ड है। राह-बाट में इधर-उधर वह जिस तरह मल-मूत्र का विसर्जन करता है उससे उसकी पशुता का ही प्रदर्शन होता है। जाति, धर्म्म, संस्कृति, कला, ये सब निरर्थक हैं यदि मनुष्य इन्हें अपने स्वभाव से सार्थक न कर सके।

आज स्थिति यह है कि पशु तो अपनी नैसर्गिक क्रियाओं को ठीक से साध लेता है, किन्तु नागरिक असुविधाओं में मनुष्य अपने मल-मूत्र का विसर्जन भली भाँति नहीं कर पाता। किसी तरह अपनी जरूरत रफ़ा करता है। इससे उसकी स्नायुओं का सञ्चलन अस्वाभाविक और असन्तुलित हो जाता है, उसकी बुद्धि और व्यवहार में विकार आ जाता है। मनुष्य आलसी और अकर्म्मण्य हो जाता है।

आज की समस्याएँ लोगों के बेढंगे रहन-सहन से उत्पन्न हुई हैं। विकृतियों से विकृतियों का संघर्ष हो रहा है, जिसमें पुण्यात्माएँ भी

पिसती जा रही हैं। राजनीतिज्ञों के युद्ध, मजदूरों की हड़तालें, छात्रों की अनुशासन-हीनता, ये सब मनुष्य की बौद्धिक विकृतियाँ हैं, इनमें चेतना का स्वास्थ्य नहीं है। कवि ने ठीक कहा है—

जन-समुद्र रे आज अचेतन
अन्ध प्रवेगों से आन्दोलित।

यदि मनुष्य अपनी प्राकृतिक क्रियाओं को ठीक से साध ले तो स्वस्थ और प्रकृतिस्थ होकर वह अपना मनोविकास कर सकता है। व्यर्थ की उलझी समस्याओं को सहज ही सुलझा सकता है।

जनता में स्वच्छता, संस्कारिता, सामाजिकता जगाने के लिए तरह-तरह की अपीलें की जाती हैं, काग़ज़ी योजनाएँ बनायी जाती हैं। ये सब बालू की भीत हैं। किसी भी कार्य्यक्रम को रूखे-सूखे यान्त्रिक प्रयासों से नहीं अग्रसर किया जा सकता। मनुष्य रसात्मक आकर्षण चाहता है। सृष्टि के प्रजनन के मूल में है—सौन्दर्य्य, आनन्द, कला। इन्हीं के द्वारा मनुष्य का कर्म्म-जगत भी अनुप्राणित किया जा सकता है।

काशी,
१८ नवम्बर, १९५२

स्मृति-पूजन

काशी,
२१ नवम्बर, १९५२

कितने दिन, कितने मास, कितने वर्ष बीत गये !

बहिन किसी दैवी ज्योति की तरह आयी और फिर उसी की तरह चली गयी। उसकी स्मृति मेरी साँस-साँस में बस गयी।

शुक्रवार को ब्राह्म मुहूर्त्त में बहिन अपने पार्थिव शरीर से बिदा हुई थी। अन्तिम दिनों जहाँ-जहाँ उसने निवास किया था वहाँ-वहाँ मेरे लिए तीर्थ बन गये हैं। काशी में जब रहता हूँ तब शुक्रवार के दिन पञ्चक्रोशी के मार्ग में अपनी तीर्थ-परिक्रमा करता हूँ। सबसे पहिले लङ्का के विष्णु भवन के उस कमरे को प्रणाम करता हूँ जो कभी बहिन की उपस्थिति से पवित्र हो चुका है। आगे बढ़ने पर वह कुआँ मिलता है जिसमें बचपन में मैं गिर पड़ा था, उसने मुझे गेंद की तरह लोक लिया था। उसे भी प्रणाम करता हूँ। और आगे बढ़ने पर वह अस्पताल आता है जहाँ बहिन के जीवन का पटाक्षेप हुआ था। मन में न जाने कितनी वेदनाएँ, कितनी भावनाएँ उर्म्मियों की तरह उमड़ कर उन्मथित हो उठती हैं। उस दिशा को प्रणाम करता हूँ जिस दिशा में बहिन ने महाप्रस्थान किया था।

ऋतुओं के साथ-साथ न जाने कितने पर्व्व-त्यौहार और सभा-समारोह आते हैं और चले जाते हैं। ये सब आज निष्प्राण और फीके लगते हैं। ऋतुओं में शरद ऋतु की तरह ही पर्व्वों में भैय्यादूज ही मुझे प्यारा लगता है। देहात में बहिन भैय्यादूज के दिन मेरी प्रतीक्षा करती रहती। यदि मैं उस दिन नहीं पहुँच पाता तो अपनी शुभकामना के अक्षत-कुङ्कुम सँजो रखती। आह, भाई-बहिन का स्नेह-पर्व्व भैय्यादूज !! शरत्पूर्णिमा में मैं बहिन का मुखचन्द्र देख लेता हूँ, भैय्यादूज में उसका प्रेमल हृदय पा जाता हूँ।

प्रतिदिन स्नान के बाद जब आस्तिक जन ईश्वर का भजन-पूजन-आराधन करते हैं, तब मैं अपने पलकों को मूँद कर अन्त:करण में बहिन को ही स्मरण करता हूँ। ईश्वर अलख निरञ्जन है, निर्गुण निराकार है। किन्तु वह जो पृथ्वी पर अपना किरण-चरण धर कर सच्चिदानन्द का चिदाभास दे गयी, उसमें उसी परमात्मा की सगुण सुषमा थी। जीवन-पथ में वही मेरी ध्रुवतारिका है। मैं उसी में एकाग्र हो जाता हूँ। सृष्टि में वही मेरे लिए शीर्षविन्दु है।

आर्य्यावर्त्त की वह आर्य्य बालबिधवा कैसे इस अनार्य्य युग के तामसिक वातावरण में अपने दिव्य व्यक्तित्त्व से सतयुग का सत्त्वोद्रेक कर सकी ! पञ्चभूतों के मृण्मय कलेवर में उसकी आत्मा कैसी चिन्मयी थी, कैसी द्युतिमती !!—

सुन्दरता को सुन्दर करई।
छवि-गृह दीपशिखा जनु जरई ॥

... ...

मेरे कमरे में, कल्पवती-कुटीर में, देवी-देवताओं से लेकर युग-

पुरुषों, कवियों और छवियों तक के अनेक चित्र हैं। बचपन में शिशु खिलौनों को सजा कर जैसे अपनी क्रीड़ा का संसार बना लेता है वैसे ही मैंने भी चित्रों को जुगो कर अपनी भावना का मनोज्ञ मनोजगत बना लिया है। इन सभी चित्रों के ऊपर बहिन का चित्र चन्द्रोदय की तरह उदीयमान है, वही मेरे चित्रमय जगत का मर्म्मोज्ज्वल केन्द्र है। स्नान-ध्यान के बाद उसी को श्रद्धाञ्जलि देकर मैं अन्य चित्रों को भी गङ्गाजल से अभिषिक्त कर देता हूँ।

बहिन जब तक सदेह थी तब तक चित्रों के चयन की ओर मेरा रुझान नहीं था। बहिन के देहावसान के बाद जब कुटीर में मैंने उसके स्मृति-चित्र को स्थापित किया तब उसी के सुरुचिपूर्ण समाज के रूप में अन्य चित्रों को भी स्थान दे दिया, उन्हें उसी का परिवेश बना दिया।

अपनी पूजा के मन्दिर में बहिन ने अपनी धार्म्मिक और कलात्मक रुचि से एक भावपूर्ण चित्र स्थापित कर रखा था, मेरे कमरे के अन्य चित्र उसी चित्र के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' हैं। वह चित्र है शिव और अन्नपूर्णा का।

विश्व के योग-क्षेम के साधक वीतराग विरागी शिव बाघम्बर पहने, अन्नपूर्णा के सामने भिक्षा के लिए हाथ फैलाये खड़े हैं। अन्नपूर्णा अपने स्वर्णासन पर विराजमान हैं। उनका परिधान रङ्गीन है, उनके मुख पर रमणीयता है, उनकी दृष्टि में कमनीयता है, उनके स्वभाव में शालीनता है। ऐसा जान पड़ता है, मानों पृथ्वी की शस्य-शोभा ही अन्नपूर्णा के रूप में राजलक्ष्मी हो गयी है, जिसके पीछे ऋद्धि-सिद्धि-समृद्धि चँवर डुला रही है। वह सुख-सौभाग्य और सौन्दर्य्य की देवी है। शिव की साधना उसी से सञ्चालित होती है।

प्रति शुक्रवार को मैं अन्नपूर्णा के मन्दिर में जाकर उन्हीं के चरणों में माताओं, बहिनों, कुलकन्याओं और गृहदेवियों को नमन करता हूँ। उन्हीं विश्वजननी का निर्म्माल्य बहिन के चित्र पर चढ़ा देता हूँ।

हरि ॐ तत्सत् !

काशी,
२४ नवम्बर, १९५२

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	शोधित
२	२	को	के
५१	१८	अत्याशित	अप्रत्याशित
५५	१४	उत्सव	उत्स
५७	२४	मरकटहे	मरकहे
६४	२३	दन	दिन
१६२	६	भावनीय	मानवीय
१८८	७	हे	है
२०७	८	यह	वह
२१०	४	तीन	तीन दिन
२२०	१६	टएटन	टन्डन
२२३	१५	एन	इन
२३३	१८	निरुपयाय	निरुपाय
२६८	१	फिरती हैं	फिरती

पृष्ठ ८१ की ग्यारहवीं पंक्ति में मुद्रित कविता इस तरह पढ़नी चाहिये—

जगती-पारावार-किनारे बालक करते मेला
शून्य सीप से खेला।